विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ अक्टूबर—१९९५ अंक—१०

रामकृष्ण निलयम, जयप्रकाश नगर, छपरा ८४१ ३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

१३१. श्री जी. के. दीक्षित, बरोडा (गुजरात)
१३२. श्री सत्य प्रकाश लाल, वाराणसी (उ. प्र.)
१३३. श्री पूनम चन्द्र जैन—लुमडिंग (आसाम)
१३४. श्री राम आसरा वासुदेव – लुमडिंग (आसाम)
१३५. नार्थ कछार टिम्बर प्रोडक्ट्स – मंडेरदिशा (आ०)
१३६. श्री ओम प्रकाश अग्रवाल – लंका (आसाम)
१३७. श्री महेश गुरुवारा लुमडिंग (आसाम)
१३८. श्री भोलानाथ उपाध्याय – लुमडिंग (आसाम)
१३९. श्री भभुभाई पटेल—बड़ोदा (गुजरात)
१४०. श्री रामभगत खेमका—मद्रास
१४१. श्री रूपाराम – जोधपुर (राजस्थान)
१४२. महावीर बाल वाचनालय—चन्दावल नगर (राज०)
१४३. श्री कृष्ण मलहोत्रा—नई दिल्ली
१४४. श्री गुलशन चावला—दिल्ली
१४५. श्री आर० के० ग्रोवर—नई दिल्ली
१४६. श्री राकेश रेल्हन—नई दिल्ली
१४७. श्री जयप्रकाश सिंह – कलकत्ता
१४८. श्री गंगाधर मिश्र—एन० सी० हिल्स
१४९. श्री वी० बी० शेरपा – लुमडिंग (आसाम)
१५०. श्री शंकर लाल अगरवाल नगाँव (आसाम)
१५१. श्री रामगोपाल खेमका— कलकत्ता
१५२. श्रीमती शान्ति देवी— इन्दौर (म० प्र०)
१५३. श्री जगदीश बिहारी—जयपुर (राजस्थान)
१५४. डॉ० गोविन्द शर्मा—काठमांडू (नेपाल)
१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. सुश्री एस. पी. त्रिवेदी – राजकोट (गुजरात)
१५७. श्रीमती गिरिजा देवी—बखरिया (बिहार)
१५८ श्री अशोक कौशिक—मालवीय नगर, नयी दिल्ली
१५९. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)
१६०. श्री रामकृष्ण साधना कुटिर, खण्डवा (म०प्र०)
१६१. श्रीमती आभा रानाडे, अहमदाबाद (म०प्र०)
१६२. श्री डी० एन० थानवी, जोधपुर (राजस्थान)
१६३. श्री सोहन लाल यादव, नाहर कटिया (आसाम)
१६४. डॉ० (श्रीमती) रेखा अग्रवाल, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)
१६५. डॉ० (श्रीमती) सुनीला मलिक (नई दिल्ली)
१६६. श्रीरामकृष्ण संस्कृतिपीठ, कामठी (नागपुर)

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ अक्टूबर—१९९५ अंक—१०

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ
सहायक सम्पादक
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५० रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएं एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। एक को मानो तो दूसरे को भी मानना पड़ता है। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। अग्नि को मानो तो दाहिका शक्ति को भी मानना पड़ेगा। बिना दाहिका शक्ति के अग्नि का विचार नहीं किया जा सकता, फिर अग्नि को छोड़कर दाहिका शक्ति का विचार नहीं किया जा सकता। सूर्य को अलग करके उसकी किरणों की कल्पना नहीं की जा सकती, न किरणों को छोड़कर कोई सूर्य को ही सोच सकता है।

(२)

आद्या शक्ति लीलामयी हैं। वे सृष्टि, स्थिति और प्रलय करती हैं। उन्हीं का नाम काली है। काली ही ब्रह्म हैं, ब्रह्म ही काली हैं। एक ही वस्तु है। वे निष्क्रिय हैं, सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कोई काम नहीं करते, यह बात जब सोचता हूँ तब उन्हें ब्रह्म कहता हूँ, और जब वे ये सब काम करते हैं, तब उन्हें काली कहता हूँ—शक्ति कहता हूँ। एक ही व्यक्ति है, भेद सिर्फ नाम और रूप में है।

(३)

काली का रंग काला थोड़े ही है! दूर है, इसी से काला जान पड़ता है; समझ लेने पर काला नहीं रहता। आकाश दूर से नीला दिखाई पड़ता है। पास जाकर देखो तो कोई रंग नहीं। समुद्र का पानी दूर से नीला जान पड़ता है, पास जाकर चुल्लू में लेकर देखो, कोई रंग नहीं।

सप्तश्लोकी दुर्गा

ॐ ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥१॥

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेष जन्तोः ।
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि ।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचिन्ता ॥२॥

सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तुते ॥३॥

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥४॥

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते ।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥५॥

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा
रुष्टा तु कमान् सकलानभीष्टान् ।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां
त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति ॥६॥

सर्वाबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि ।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरि विनाशनम् ॥७॥

॥ इति श्रीसप्तश्लोकी दुर्गा सम्पूर्णा ॥

भगवत् सान्निध्य का अभ्यास–(२)

स्वामी यतीश्वरानन्द
अनुवादक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

कर्म और उपासना

प्रारंभ में साधक को शरणागति के भाव से करते हुए भी कर्म और उपासना में कुछ अन्तर प्रतीत हो सकता है। बाद में उसे लगता है कि वह अपने समस्त कर्त्तव्यों के बीच अपनी मानसिक उपासना कर सकता है। अन्त में उसके सभी कर्म उपासना बन जाते हैं। प्रारंभ में हमें कर्मों के फलों को परमात्मा को समर्पित करके अपनी क्रियाओं को यथासंभव निष्काम बनाना चाहिए। बाद में हम परमात्मा के हाथों के यंत्र के रूप में काम करना सीख जाते हैं। तब हमारा समग्र जीवन एक अविच्छिन्न उपासना बन जाता है।

कर्म और उपासना को साथ-साथ किया जाना चाहिए। दोनों चित्तशुद्धि करते हैं और उच्चतर चेतना के विकास में सहायक होते हैं। उन्हें एक-दूसरे से अभिन्न द्विविध साधना समझना चाहिए।

ध्यान के नाम पर किसी भी स्त्री अथवा पुरुष को अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सदा भगवत स्मरण करते हुए कर्म करने पर हमें इतने अधिक व्यक्तिगत ध्यान की आवश्यकता नहीं रहेगी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साधक किसी न किसी रूप में सदा परमात्मा के संस्पर्श में रहे। नित्य कर्मों में निरत रहते हुए भी मन-ही-मन मन्त्र का जप करना इसके श्रेष्ठ उपायों में से एक है। जप के चक्र को निरंतर अपने भीतर चलने दो। जैसा स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने हमें निर्देश दिया है। (स्वामी प्रभवानन्द, "इंटरनल कम्पेनियन", मद्रास, रामकृष्ण मठ, १९८५ पृ०-२११) सर्वदा शब्द प्रतीक की सहायता लो। अपने खाली समय को परमात्मा के नाम से भर दो।

जब कभी सेवा का अवसर आये, हमें उसे बिना हिचकिचाहट के स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा आत्मा संकुचित होती है। अधिक कर्म न खोजो, लेकिन अवसर आने पर सेवा करो। हमारा विकास देने से होता है, प्राप्त करने से नहीं। प्राप्तकर्त्ता को दाता, किसी न किसी वस्तु का दाता, होना चाहिए, कभी भी भिक्षु का स्थान न लो। अनासक्त लेकिन पूरी तरह सहानुभूति संपन्न रहो। जहाँ भी संभव हो, सहायता प्रदान करो, लेकिन अनासक्त होकर, यह जानते हुए कि तुम कर्त्ता नहीं हो।

कभी-कभी हम यह सोचते हैं कि दूसरों को आध्यात्मिक सहायता करने का प्रयत्न करने से हम गुरु की भूमिका निभाने लगते हैं। यदि हममें अहंकार या बड़प्पन का भाव न रहे तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह सेवा है और अवसर आने पर अथवा आवश्यकता पड़ने पर ऐसी सेवा करने से हमें संकुचित नहीं होना चाहिए।

कर्म को उपासना में परिणत करने के लिए सर्वप्रथम जप और ध्यान द्वारा आध्यात्मिक भाव का विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जब कोई व्यक्ति किसी काम को हाथ में लेता है तो वह सर्वदा भगवत् स्मरण नहीं कर सकता। अतः वह कार्य के प्रारंभ में, मध्य में और अन्त में

परमात्मा का स्मरण करे तथा सोचे कि वह यह कार्य, परमात्मा की सेवा के रूप में उन्हें प्रसन्न करने के लिए कर रहा है। इस प्रथम कदम को बढ़ाने में सफल होने पर परमात्मा को कर्म के बीच में अधिक बार स्मरण किया जा सकता है।

मन में दो प्रवाह रहते हैं; एक ऊपरी और दूसरा नीचे का। सामान्यत: निम्न प्रवाह व्यर्थ विचारों से भरा रहता है। अपने निर्दिष्ट कर्म करते हुए यह स्मरण रखने से कि भगवान के निमित्त कर्म किया जा रहा है, मन के इस निम्न या अन्तर्प्रवाह को भगवच्चिन्तन के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। इससे कर्म यंत्रवत् नहीं बनता और मन भी सांसारिक विचारों में व्यस्त नहीं होता।

कभी-कभी परिस्थितियों के दबाव के कारण अधिक कर्म करना पड़ सकता है, लेकिन यदि मन समुचित रूप से प्रशिक्षित हो तो तीव्र क्रियाशीलता के बीच भी परमात्मा का चिन्तन करना संभव होता है। इसके लिए नियमित प्रारंभिक साधना आवश्यक है।

अच्छे मन को यह निश्चय कैसे दिलाया जाय कि भगवान ही एकमात्र कर्त्ता हैं? पहले कर्म और उपासना के द्वारा आत्मा की भी आत्मा, परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करनी चाहिए। और उसके बाद तुम इच्छा और उनकी शक्ति को तुम्हारे देह और मन तथा विश्व की सभी वस्तुओं के माध्यम से कार्य करते हुए आसानी से अनुभव कर सकोगे।

इस तरह हम समर्पण के आदर्श पर पहुँचते हैं। इस शब्द का अर्थ है अपनी आत्मा, मन और देह को परमात्मा को समर्पित करना, कार्य-संपादन के लिए उनके हाथों के यन्त्र बनने की प्रार्थना करना और स्वयं की आत्मा की मुक्ति के लिए संघर्षरत रहने के साथ-ही-साथ सभी के कल्याण के लिए प्रयत्न करना। मानव में परमात्मा को प्रेम करना और उसकी सेवा करना तथा इस तरह मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करना ही मूल विचार होना चाहिए। हमारे निकट संपर्क में आने वालों की आवश्यकता के अनुसार सेवा शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक हो सकती है।

जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, कर्म के साथ परमात्मा का चिन्तन और सभी क्रियाओं को उन्हें समर्पित किया जाना चाहिए। परमात्मा तथा उन्हें प्राप्त करने के लक्ष्य को भूलकर मशीन की तरह कार्य करने वाले ही यंत्रवत् होते हैं। समस्या कर्म की मात्रा की इतनी नहीं है, जितनी उसे भगवत् समर्पित बुद्धि से न कर सकने की। साक्षात्कार के लक्ष्य को निरंतर दृष्टिगोचर रखे बिना तथा क्षुद्र अहंकार और ईश्वरीय चेतना में विलीन किये बिना, समर्पण संभव नहीं है। जो व्यक्ति यह कहता है कि समर्पण में सब कुछ त्याग कर दूसरों की सही अथवा गलत सभी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है, उसने शरणागति की भी भावना को नहीं समझा है और यदि उसने समझा भी है तो वह आदर्श को ठीक से व्यक्त नहीं कर पा रहा है। सच्ची शरणागति की साधना में सफल होने पर अहंकार का नाश नहीं होता, बल्कि वह रूपान्तरित हो जाता है। व्यक्तिगत चेतना परमात्मचेतना के साथ तथा व्यक्तिगत इच्छा भगवदिच्छा के साथ एकाकार हो पाती है। यहाँ तक कि व्यक्ति की देह भी विराट देह का अंग प्रतीत होती है। ऐसा व्यक्ति कभी यंत्रवत् नहीं हो सकता। इसके विपरीत, वह अहं केन्द्रित जीवन के बदले परमात्मा केन्द्रित जीवन-यापन करता है।

तुम जो भी कार्य करो, सोचो वह सारा कार्य तुम्हारे और सभी के भीतर विराजित परमात्मा की सेवा के रूप में कर रहे हो। गीता के अट्ठारहवें

अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म से परमात्मा की अराधना करने से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त होती है। (भगवद् गीता-१८, ४६) निष्ठापूर्वक कोई भी सत्कार्य, चाहे वह कितना ही तुच्छ क्यों न हो, भगवद्सेवा के रूप में किया जा सकता है, और उसे अनासक्त होकर किया जा सकता है।

तीव्रता की आवश्यकता

तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं: लक्ष्यहीन अचेतन क्रिया; निश्चित लक्ष्य-युक्त सचेतन क्रिया; और सामान्य चेतना के साथ उच्चतर चेतनायुक्त क्रिया और तीसरे प्रकार की क्रिया को प्राप्त करने तक हमें रुकना नहीं चाहिए। हमें उच्चतर चेतना के साथ संपर्क विच्छेद किये बिना कर्म करना सीखना चाहिए। इसमें कोई नयी कार्य-क्षमता विकसित नहीं होती, पर पुराने कार्य को नयी और श्रेष्ठतर दिशा प्रदान की जाती है। बाहर कोई नयी बात नहीं आती. पर एक नयी आन्तरिक चेतना का उदय होता है, जो हमारा नैसर्गिक स्वभाव है।

तीव्र आध्यात्मिक प्रयास के द्वारा हम मन में एक अन्तर्प्रवाह का निर्माण कर सकते हैं जो बाकि मन के कर्म में लगे रहते हुए भी परमात्मा की ओर प्रवाहित होता रहे। इस तरह मन के दो प्रवाह हो जाते हैं। मन का ऐसा सचेतन विभाजन संभव है और आध्यात्मिक जीवन की अविच्छिन्नता के लिए आवश्यक है। सतत् साधना के द्वारा हम मन के अधिकांश भाग को नियंत्रित कर सकेंगे और जिस मात्रा में हम ऐसा कर पायेंगे, उतना ही सफलतापूर्वक मन को दो भागों में विभक्त कर सकेंगे, तथा अपने कर्त्तव्य-कर्मों के बीच भगवत् सान्निध्य की अधिक दक्षता पूर्वक साधना कर सकेंगे। सामान्यत: यह अन्तर्प्रवाह नाना प्रकार की फालतू बातों का अचेतन प्रवाह होता है। ध्यान के समय हमें वाह्य-प्रवाह और अन्तर्प्रवाह को एक करना चाहिए और उसके बाद कर्म के समय अन्तर्प्रवाह को किसी उच्चतर दिशा में, किसी उच्चतर क्रियात्मक मार्ग में यथासंभव प्रवाहित करना चाहिए। हमें निम्न प्रवाह की विषय-वस्तु को परिवर्तित करना चाहिए। हमें उन्हें चेतन स्तर पर लाना चाहिए। ऐसा करने पर मन का बहुत-सा भाग हमारे नियंत्रण में आ जाता है और साथ ही पूर्ण सजग और तीव्रतर हो जाता है। साधक के जीवन की यह एक महत्त्वपूर्ण साधना है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है अधिकाधिक मानसिक सजगता, अर्थात् उच्चतर मन का विकास, जिससे अन्त में अतिचेतन अवस्था की प्राप्ति होती है।

अपने कर्म करते समय मन और उसकी गतिविधियों का निष्पक्ष रूप से थोड़ा अध्ययन करो। उसका निरीक्षण करो और देखो कि किस प्रकार वह नाना प्रकार की निरर्थक और कभी-कभी हानिकारक बातों में भी व्यस्त रहता है। तब तुम मन का बहुत हद तक सचेतन नियंत्रण कर सकोगे और दीर्घकाल व्यापी निरंतर साधना द्वारा तुम पाओगे कि मस्तिष्क के स्नायु मानो हल्के हो गये हैं, और उनकी अधिकांश बाधा नष्ट हो गयी है। अतिचेतनावस्था के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही बाधाओं को यथासंभव प्रभावहीन करना होगा।

दूसरों के साथ आदान-प्रदान

हम अपने लिए कुछ हासिल करने का प्रयत्न करते हैं, और उसके बाद दूसरों को बाँटते हैं। प्रारंभ में हम अपने स्वयं के आन्तरिक विकास को अधिक महत्व भले ही दे, पर दूसरों के हित को दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिए। सर्वप्रथम हमारी कुछ तैयारी होनी चाहिए अन्यथा

हम दूसरों की सेवा भी अच्छी तरह नहीं कर सकते। पहले स्वयं दिव्य बनने का प्रयत्न करें और उसके बाद दूसरों को दिव्य बनाने में सहायता करें। लेकिन ये दोनों साथ-साथ होने चाहिए। अपनी आध्यात्मिक प्रगति को कुछ हद तक आगे बढ़ाने पर ही दूसरों के लिए सुचारू रूप से कार्य किया जा सकता है। जब स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "मैं अपनी मुक्ति की परवाह नहीं करता", उसके पहले उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया था। उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त कर उन्होंने दूसरों के लिए कर्म किया था।

यदि प्रभु हमें उच्चतर मन:स्थिति में रखें और उनकी सेवा करने की शक्ति प्रदान करें, तो हमें उसे स्वीकार करना चाहिए। ऐसी सेवा हमें लक्ष्य के निकट ले जाती है। कभी-कभी अपने लिए ही नहीं बल्कि, दूसरों के लिए भी उच्चतर मनोभूमि पर बने रहना आवश्यक होता है। यह आध्यात्मिक साधना को और अधिक प्रेरणा प्रदान करता है। तुम्हारे पास यदि कुछ न हो तो तुम क्या दोगे ? अत: अपनी लगन के कारण ही नहीं, बल्कि आवश्यकता के कारण हमें अधिक उपार्जन करना पड़ता है, क्योंकि अधिक का वितरण करना है।

हम सभी के लिए यही आदर्श है : अपने तथा दूसरों के कल्याण का प्रयत्न करना और सच पूछो तो दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता। सेवा द्वारा दोनों में अधिकाधिक एकत्व का बोध होने लगता है। जिस माया में अहं के भाव को कम महत्व दिया जाता है, उसी माया में एकत्व का भाव अधिकाधिक प्रकट होता है, और अन्त में हम सभी स्त्री-पुरुषों में, सारे बाह्य तथा अन्तर्जगत में परमात्मा की अनुभूति करने लगते हैं।

जगत् के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन

इस एकत्व के वास्तविक साक्षात्कार के पूर्व भी अपनी साधना के दौरान उसकी कल्पना और अनुभूति करनी चाहिए। सत्य को स्पष्ट धारणा के बिना कर्म खतरनाक हो सकता है। संसार में कर्म करते समय हमें लोगों के साथ रहना और मिलना-जुलना पड़ता है। अत: यह आवश्यक है कि प्रारंभ में ही एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्थिर कर लिया जाय। अत: साधक को कल्पना की सहायता लेनी चाहिए। पतंजलि अपने योग सूत्रों में कहते हैं : "वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्" (पा० यो० सू० २-३३) अर्थात् "योग के विपरीत विचारों को बाधा को दूर करने के लिए प्रतिपक्ष चिन्तन किया जाना चाहिए।"

अत: जब कभी बुरे विचार या बुरी कल्पना मन में उठे, तब विपरीत शुभ विचारों को मन में उठाओ। सही प्रकार की शुभ कल्पनाओं को बुरी कल्पनाओं का स्थान लेना चाहिए। यह अन्तिम समाधान नहीं है, लेकिन अधिकांश लोग प्रारंभ में यही कर सकते हैं। यह लुटेरों को भगाने के लिए पुलिस की लेने के समान है। लेकिन सुरक्षित स्थान पर पहुँचने सहायता पर हमें पुलिस की और आवश्यकता नहीं होती। अत: साक्षात्कार होने तक हमें शुभ कल्पनाओं की सहायता लेनी चाहिए। इनके बिना हम इस संसार में नहीं रह सकते और आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकते।

फिर भी हमें यह देखना चाहिए कि कल्पना कोई गलत दिशा न ले ले। उसे विवेक और वैराग्य तथा आत्मा के स्वरूप पर आधारित होना चाहिए। तुम्हारा दूसरे के प्रति दृष्टिकोण, तुम्हारे अपने प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। यदि तुम स्वयं को देह समझोगे तो तुम्हें अपने आस-पास मानव शरीर ही दिखाई देंगे। अगर तुम अपने को देह में स्थित ज्योतिर्मय आत्मा समझोगे तो तुम्हें

वही ज्योति सब में प्रकाशित होती दिखायी देगी।

जब तक हम कभी-न-कभी अशुभ का सामना करने, तथा उसमें भी परमात्मा का दर्शन करने के लिए तत्पर नहीं होते, तब तक हमारी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। हमें रूप से अधिक तथ्य को शुभ और अशुभ से अधिक परमात्मसत्ता को महत्व देना सीखना चाहिए। हम शुभ और अशुभ के परे विद्यमान परमात्मसत्ता की ओर ध्यान दिए बिना शुभ और अशुभ को लेकर व्यस्त रहते हैं। हमें कहना चाहिए: "रूप मेरे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, मैं तत्त्व को अधिक महत्व देता हूँ।"

शिवजी के कुछ भक्त सभी नारियों को पार्वती तथा सभी पुरुषों को महेश्वर-शिव समझते हैं, और उसके बाद इन दोनों, भगवान और भगवती को उस सत्ता में विलीन कर देते हैं, जिससे वे उत्पन्न हुए हैं। इस तरह ये उपासक कई समस्याओं को सुलझा लेते हैं। यदि कोई व्यक्ति सभी नारियों को भगवती और सभी पुरुषों को भगवान के रूप में देखने लगे तो इससे कितना फर्क पड़ जायेगा।

कुछ अन्य भक्त सभी पुरुषों को श्रीरामकृष्ण और सभी स्त्रियों को माँ सारदा के रूप समझते हैं, और अन्त में उनका भी अतिक्रमण कर उन दोनों की पृष्ठभूमि में विद्यमान परमात्मा तक पहुँच जाते हैं। इसी तरह हमारी समस्याओं का सच्चा समाधान संभव है। अच्छा हमारी वर्तमान स्थिति में उद्विग्न कर रहे विचार तथा अशुभ रूपों की अपेक्षा की जा सकती है, लेकिन यह कभी भी समाधान नहीं हो सकता। एक समय ऐसा आना चाहिए, जब हम शुभ और अशुभ दोनों के पीछे की अद्वितीय सत्ता को देख सकें, और तब शुभ और अशुभ हमें प्रभावित नहीं करेंगे।

और यदि हम इन विभिन्न रूपों को वास्तविक सत्ताओं के रूप में कभी नहीं, बल्कि निराकार की अभिव्यक्तियों के रूप में देखने में सचमुच समर्थ हों; यदि हम जड़ पदार्थ को विचारों की अभिव्यक्तियों के रूप में तथा विचारों को अनन्त चैतन्य की अभिव्यक्ति के रूप में देखने में समर्थ हो सकें, तब हम सभी वस्तुओं को उनके सही परिपेक्ष्य में, सही स्थिति में देख पायेंगे। तब फिर हम भौतिक अथवा मानसिक रूपों मात्र से भ्रमित नहीं होंगे। भगवद् सान्निध्य के अभ्यास के लिए ऐसा दृष्टिकोण आवश्यक है।

भौतिक दृष्टि से हमारा अनन्त भौतिक ब्रह्माण्ड के साथ, मानसिक स्तर पर अनन्त विराट मन के साथ तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अनन्त परमात्मा के साथ तादात्म्य होना चाहिए। और तब हम सभी बातों को उनकी सही भूमिका में, सही दृष्टि से देख तथा तदनुसार कार्य कर सकेंगे। ससीम का सदा असीम के साथ, सभी विभिन्न स्तरों पर, चेतना के सभी विविध रूपों के साथ तादात्म्य होना चाहिए। परमात्मा के सान्निध्य का सदा, सभी स्तरों पर अनुभव होना चाहिए।

विराट-शक्ति का नियंत्रण

व्यष्टि मन समष्टि मन के साथ जुड़ा रहता है, तथा हमारी मानसिक शक्ति ईश्वरीय स्रोत से आती है। इस मानसिक शक्ति को नियंत्रित और संचालित करना हमें आना चाहिए। ऊर्जा को निम्न केन्द्रों में प्रकट रोकने के लिए तथा हमारी इन्द्रियों के माध्यम से उसे बाहर जाने, व्यर्थ विचारों, चिन्ता एवं व्यर्थ बातों के द्वारा नष्ट होने से बचाने के लिए नियंत्रण आवश्यक है। इससे प्रारंभ में कुछ तनाव उत्पन्न होता है, जो अपरिहार्य है। सिद्ध पुरुष में ऐसे नियंत्रण की आवश्यकता नहीं रहती। उसकी सारी मानसिक ऊर्जा उच्चतर केन्द्रों की ओर प्रवाहित होती है।

लेकिन हम लोगों के लिए सचेतन सज्ञान का नियंत्रण आवश्यक है।

अचेतन नियंत्रण को मनोविज्ञ लोग **दमन** कहते हैं, और कुछ लोगों के लिए कुछ प्रकार के दमन हानिकारक होते हैं। लेकिन सचेतन, समझबूझ कर किया गया नियंत्रण आध्यात्मिक जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि सभी स्वस्थ स्वाभाविक, सामाजिक जीवन के लिए भी आवश्यक है। इस विषय में भारतीय मनोविज्ञान और पाश्चात्य मनोविज्ञान में अन्तर है।

ईश्वरीय शक्ति हम सभी के भीतर प्रवाहित हो रही है। हम सभी न्यूनाधिक मात्रा में (परमात्मा के हाथों में) यन्त्र हैं। लेकिन जब हम इस ऊर्जा के निम्न केन्द्रों से प्रवाह को समझ बूझ कर, रोककर उच्चतर केन्द्रों से अभिव्यक्त होने देते हैं, तब हम नित्य ताजगी का अनुभव करते है। तब फिर, जहां तक बौद्धिक जीवन का प्रश्न है, हमारे लिए कोई वार्धक्य नहीं होता। कभी-कभी पूर्व संस्कारों एवं प्रवृत्तियों के कारण हम उच्चतर स्तरों की क्रियाशीलता बनाए नहीं रख पाते। तब नीचे की ओर एक तीव्र खिंचाव होता है—एक वास्तविक खींच-तान चलती है, जो विकास के लिए अपरिहार्य है। हम ऊर्जा के प्रवाह को रोक नहीं सकते पर उसे सोच-विचार कर, सचेतन रूप से, इच्छाशक्ति की सहायता से एक उच्चतर दिशा प्रदान कर सकते हैं।

सचेतन बुद्धिमत्तायुक्त चिन्तन आवश्यक है। सचेतन चिन्तन बाधाओं को दूर करता है, और व्यवधान दूर होने पर अधिक मानसिक शक्ति हममे प्रवाहित होती है।

सर्वप्रथम इच्छाशक्ति की सहायता से सज्ञान प्रवाह प्रारंभ करो। उसके बाद वह बना रहता है। नये विचारों को सोचने, चिन्तन और अभिव्यक्ति के नये मार्गों को खोजने का प्रयत्न करो, और ऐसा होने पर मानसिक शक्ति को दिशा प्रदान करने का कार्य स्वाभाविक और बिना प्रयास के होने लगता है।

सचेतन उच्चतर चिन्तन के द्वारा हम उच्चतर मार्गों का द्वार खोल देते हैं। और मार्ग खुल जाने पर उच्चतर चिन्तन आसान हो जाता है। उच्चतर विचार प्रवाहित होने लगते हैं, वस्तुतः वे बड़ी तेजी से उठने लगते हैं। लेकिन सदा सचेतन रूप से इच्छाशक्ति की सहायता से इस प्रक्रिया को प्रारंभ करना चाहिए।

यदि उच्चतर विचार अनजाने में हममें उठते हों, तो किसी दिन निम्नतर विचार भी उठेंगे। अतः अचेतन प्रक्रिया से यथासंभव बचना चाहिए।

उच्चतर विचारों को सचेतन रूप से हम में प्रवाहित होने देना चाहिए। इसे अचेतन प्रक्रिया नहीं बनने देना चाहिए। सचेतन संघर्ष से उच्चतर मार्गों के खुलने पर उच्चतर विचार सचेतन रूप से हम में उठते हैं और तब आध्यात्मिक जीवन बहुत आसान हो जाता है। एक नया मनोवैज्ञानिक और स्नायविक रास्ता खुल जाता है जिससे ये उच्चतर विचार बिना बाधा के प्रवाहित हो सकते हैं। उच्चतर का वास्तविक अर्थ है गहरे। हम बाह्य आकाश की अपेक्षा से "उच्चतर" कहते हैं, लेकिन आध्यात्मिक जीवन में आन्तरिक चेतना का महत्त्व है, अतः मानसिक ऊर्जा के केन्द्रों और मार्गों के सन्दर्भ में हमें "गहरे" शब्द का उपयोग करना चाहिए। जो हो, हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात है प्रवाह को सचेतन रूप से प्रारंभ करना। यह प्रारंभिक कर्तव्य है और उसके बाद अन्य सब बातें होती जाती हैं।

उच्चतर केन्द्रों का जागरण

ससीम सदा असीम के संस्पर्श में है। निम्न

स्तरों पर यह अचेतन रहता है। उच्च स्तर पर यह सचेतन हो जाता है; जब तुम उसका अनुभव करते हो। उच्चतर स्तर पर उठ कर ऊर्जा को उच्चतर अभिव्यक्ति करना तुम्हारा प्रस्तुत कार्य है।

साधक का कार्य उच्चतर केन्द्रों को क्रियाशील करना, उन्हें जगाना है। निम्न केन्द्रों की क्रिया को सचेतन रूप से बन्द करके उच्चतर केन्द्रों को गतिशील करना चाहिए, लेकिन यह कार्य सज्ञान किया जाना चाहिए। यह एक सज्ञान, सोचे-विचारे की गयी प्रक्रिया होनी चाहिए। जप, ध्यान, प्रार्थना इत्यादि सभी उच्चतर केन्द्रों की क्रिया को प्रारंभ करने के लिए हैं।

किसी समय तुम निम्न तथा उच्च केन्द्रों का युगपत् अनुभव कर सकते हो, अर्थात् दोनों एक ही समय क्रियाशील होना चाहते हों और तब एक भयानक खींच-तान होती है। यह अपरिहार्य है और सभी को इस स्थिति से गुजरना पड़ता है। तब तुम्हें महान इच्छाशक्ति की सहायता से निम्न केन्द्रों की गतिशीलता को रोकना पड़ता है।

नित्य साधना और तीव्र संघर्ष के द्वारा उच्चतर केन्द्रों की क्रिया अधिकाधिक स्वाभाविक और कम श्रमसाध्य हो जायेगी। लेकिन इस युद्ध सम अवस्था से गुजरे बिना इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। बाधाओं को दूर कर ऊर्जा को उच्चतर दिशा में प्रवाहित कर अभिव्यक्त करने तथा उच्चतर स्तरों पर सृजनशील करने के लिए देह और मन की सामान्य शुद्धि आवश्यक है। ऊर्जा कार्यरत होगी ही, चाहे निम्न शारीरिक स्तर पर हो या उच्चतर स्तर पर। उसकी अभिव्यक्ति को रोका नहीं जा सकता। लेकिन उसकी दिशा परिवर्तन की जा सकती है और यही साधक का प्रस्तुत कार्य है।

अपनी ऊर्जा को नियंत्रित करना मात्र पर्याप्त नहीं है। लेकिन उसे उच्चतर दिशा प्रदान करना आना चाहिए। अन्यथा ऊर्जा घूमती रहती है, और अधिकाधिक एक वर्तुल सी वन जाती है अथवा वह आसानी से एक निम्नतर दिशा पाकर निम्न केन्द्रों से अभिव्यक्त हो सकती है। हम में बहुत-सी शक्ति अभिव्यक्त हुए बिना भरी पड़ी हैं। सारे शक्ति प्रवाह को रोक देने पर बहुत मे लोग जड़वत् हो जाते हैं; अर्थात् वे निम्न केन्द्रों मे शक्ति को अभिव्यक्त होने नहीं देते और साथ ही उसे उच्चतर दिशा भी प्रदान नहीं करते। अतः अवरुद्ध होकर समस्याएँ पैदा करने लगती हैं। बहुत से लोग उच्चतर स्तर पर उसका उपयोग करने में असमर्थ होते हैं और निम्न केन्द्रों के द्वारा ही उपयोग कर सकते हैं। निम्न केन्द्रों से शक्ति के प्रवाह को रोक देने पर वे निष्क्रिय हो जाते हैं, अथवा उनकी शक्ति आवर्तित होने लगती है। इसीलिए इस निम्न श्रेणी के लोगों को निर्देश देते समय हमें बहुत सावधान होना चाहिए।

कभी शक्ति के तीव्र वेग का अनुभव होता है जिसे रोका नहीं जा सकता। पूर्व प्रशिक्षण तथा चित्तशुद्धि के द्वारा हमें इसे संभालने के लिए तैयार रहना चाहिए। बहुत से विभिन्न मनोभाव तथा प्रेरणाएँ हम में उठती हैं, और हमें उच्चतर भावों को विकसित और संवर्धित करना तथा निम्न भावों को दूर करना सीखना चाहिए।

आन्तरिक नियंत्रण

सामान्यतः हमारे भीतर कुछ अवचेतन प्रक्रिया हमारे अनजाने ही चलती रहती है, और हम उसके परिणाम को ही जान पाते हैं। अतः हमें अपने मन की गतिविधियों को नियंत्रित करने में समर्थ होना चाहिए। हमें अपने भीतर प्रवाहित हो रही ईश्वरीय शक्ति के प्रति सचेत होना तथा

उसको अपने भीतर नियंत्रित करने में समर्थ होना चाहिए। हम बाह्य घटनाओं को नियंत्रित नहीं कर सकते - कम-से-कम पूर्ण नियंत्रण तो नहीं कर सकते - लेकिन हम अपने आप पर यथासंभव नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं।

ग्रह-नक्षत्रों का, पर्यावरण का तथा समग्र बाह्य वातावरण का प्रभाव हम पर पड़ता है, लेकिन यह कोई कारण नहीं है कि हम उनसे प्रभावित हो पावें। यदि उनका विरोध न कर सका तो तुम्हें उनसे अप्रभावित सा रहना चाहिए। तब तुम उनके प्रभाव को अनुभव नहीं करोगे और अवांछनीय आवेगों अथवा शक्ति के वेग के उठने पर अपना सन्तुलन नहीं खोओगे और अभ्यास के द्वारा हम बिना प्रयत्न के सुरक्षित हो जाते हैं।

यदि तुम मिलनसार होओ और बुरे स्वभाव के लोगों के संपर्क में आओ, तो तुम अपने को उनसे प्रभावित महसूस करोगे और ऐसी स्थिति में यदि तुम सावधान न रहो और गलत व्यक्ति आये तो वह तुम्हें नीचे खींच लेगा। और, यह पतन बाह्य प्रभाव के कारण ही अथवा हमारी अपनी लापरवाही और विवेकहीनता के कारण भी हो सकता है। आन्तरिक सन्तुलन आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या है, और इसके बिना स्थिरता अथवा शान्ति संभव नहीं है।

आघातों को परमात्मा की ओर मोड़ो

यह सारा नैतिक अनुशासन हमें बहुत सहायक होता है। कभी-कभी महान् इच्छाशक्ति की सहायता से आन्तरिक सन्तुलन बनाये रखना पड़ता है। लेकिन यह भी अभ्यास द्वारा अधिकाधिक स्वाभाविक होता जाता है। और, उच्चतर ध्यान की मनःस्थिति बनाये रखने के प्रयास से तथा किसी व्यापकतर चेतना के संस्पर्श में रहने से आध्यात्मिक जीवन में यह सन्तुलन आसान हो जाता है। क्योंकि तब तुम अपने में हो रही प्रतिक्रियाओं को किसी व्यापकतर सत्ता को स्थानान्तरित कर देते हो। तुम्हे आघात लगते हैं पर तुम किसी और को दे देते हो। अतः परमात्मा एक प्रकार से हमारे 'झटका-अवशोषक' हो जाते हैं।

भक्त इस कार्य को—अपने आघातों को परमात्मा को देने के कार्य को—अपनी भक्ति की सहायता से करते हैं : "प्रभु यह तुम्हारी इच्छा है, हम क्या करें ?" प्रतिक्रियाओं को कम करने की भक्तों की यह मनोवैज्ञानिक पद्धति है।

ज्ञानी उस अनन्त का चिन्तन करने का प्रयास करता है, जिसका वह अंश है और अंश कभी पूर्ण का अतिक्रमण नहीं कर सकता। असीम सदा ससीम की सहायता करने को तत्पर है, क्योंकि इन दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता। बुद्बुदे के दृष्टान्त में हम देखते हैं कि सागर यदि बुद्बुदे को सभी अवस्थाओं में आश्रय न दे तो बुद्बुदा किसी भी क्षण फूट सकता है। कभी उसे अपना केन्द्र परिवर्तित करना पड़ता है, लेकिन वह सागर पर रहते हुए ही केन्द्र परिवर्तित करता है, और यही हमें करना है।

यदि किसी दिन तुममें भावनाओं का अत्यधिक उद्वेग हो, और तुम्हें यह ज्ञात न हो कि इससे कैसे छुटकारा पायें, तो परमात्मा की ओर दौड़ पड़ो। यह भावना तुम्हें परमात्मा तक ले जाए, और यदि तुम रुकना चाहो, तो परमात्मा तक पहुँचने की प्रतीक्षा करो। उसके पहले न रुको। यही उपाय है : सभी कुछ परमात्मा को स्थानान्तरित कर देना।

जब तक ससीम असीम के संस्पर्श में आने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक समूल शुद्धिकरण नहीं हो सकता। हम सभी कचरा और धूल छिपाते हैं, कभी-कभी फूलों के द्वारा उसे आवरित

कर देते हैं, लेकिन जब तक हमारे सारे मन की वास्तविक सफाई नहीं होती तब तक आध्यात्मिक जीवन में कुछ भी नहीं हो सकता। केवल ऊपरी सफाई से काम नहीं चलेगा।

ससीम सदा अपवित्र होता है, और वह असीम के संस्पर्श में आने पर ही पवित्र होता है और इस तरह अपने असीम स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करता है। ससीमता, अपने स्वभाव को ससीमता ही वास्तविक "आदि-पाप है," और यह आदि-पाप ससीमता का त्याग करने पर, असीम को हमारे वास्तविक मूल स्वभाव के संस्पर्श में आने पर ही दूर सकता है।

इस एकात्मता की अनुभूति होने पर समग्र जगत् हमारे नेत्रों के समक्ष रूपान्तरित होकर दिखाई देता है। हमारे लिए सब कुछ शुभ और मंगल हो जाता है। हृदय की सभी ग्रन्थियाँ और वक्रताएँ नष्ट हो जाती हैं और अनन्त का आनन्द हमारे रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है। तब हमें इस वैदिक ऋष्टि का सा अनुभव होता है जिसने निम्नोक्त मंच का गान किया था :

वायु हमारे लिये मधुर है,
सागर हम पर मधु-सिंचन कर रहे हैं।
औषधियाँ हमारे लिये मधुमय होवें,
वनस्पतियाँ मधुमय हों,
सूर्य भी हमारे लिये प्रिय हो।
दिवा-रात्रि हमारे लिये मधुमान होवें।
पृथिवी की रज हमारे लिये मधुमय है।
ए स्वर्गस्थ पिता, हमारे लिए मधुमान होओ।
गायें हमारे प्रति मधमति होवें।

मधुवाला ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धव:।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः मधुनक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं रज:।
मधुधौरस्तुन: पिता।
मधुमान्नो वनस्पतिः मधुमानस्तु सूय:।
माध्वोर्गावो भवन्तु न:॥

महानारायण उपनिषद् ३६।

सनातन धर्म में शक्ति की आराधना

—नीलिमा सिन्हा

वैष्णव, शैव और शाक्त—सनातन धर्म के ये तीन सर्वप्रमुख सम्प्रदाय हैं। इन तीनों में शाक्त शक्ति को मूल तत्व बताते हुए शक्ति की केन्द्रीभूत आराधना करते हैं। शेष दो-वैष्णव तथा शैव 'ब्रह्म' रूपी विष्णु के तथा आदि पुरुष शिव के उपासक हैं। यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि वैष्णव तथा शैव भी 'शक्ति तत्व' की उपेक्षा नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार सनातन धर्म के तीनों सम्प्रदायों में "शक्ति' तत्व का महत्वपूर्ण स्थान है।

वैष्णव मत के अनेकानेक सम्प्रदाय हैं। इन सभी सम्प्रदायों में परस्पर साम्य यह है कि समस्त वैष्णव सम्प्रदाय निर्विशेष ब्रह्म या सगुण ईश्वर के रूप में विष्णु की उपासना करते हैं तथा श्री विष्णु को ही सृष्टि का आदितत्व मानते हैं। समस्त वैष्णव सम्प्रदाय, चाहे तो सगुण ब्रह्म के उपासक हों या निर्गुण ब्रह्म के, ब्रह्म की 'शक्ति' के रूप में माया को प्रतिष्ठित करते हैं। यह शक्तिरूपा माया अज्ञान तथा जगत-प्रपंच का मूल है। माया के

कारण ही ब्रह्म, जो 'एक' है, अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। इस प्रकार माया के कारण ही समस्त सृष्टि है। इसी अर्थ में माया ब्रह्म की 'उत्पादक-शक्ति' है। इसी अर्थ में यह 'शक्ति' सर्वत्र 'मातृरूपेण' प्रतिष्ठित है। 'शक्ति' होने का अर्थ ही है उपादान से अपृथक रहकर कार्योत्पादन में उपयोगी रहना। ब्रह्मवैर्तपुराण में श्रीकृष्ण श्रीराधा से कहते हैं—"सृजन की क्रिया में मैं बीज रूप और तुम आधार रूप हो।" अद्वैत वेदान्त के अनुसार सृष्टि का उपादान ब्रह्म है, विश्व उसी ब्रह्म का अध्यास है और विश्व की उत्पादकता की मूल शक्ति 'माया' है, जो ब्रह्म से अपृथक रह कर आवरण और विक्षेप की क्रियाओं के द्वारा ब्रह्म को जगत के अध्यास के रूप में उपस्थित करती है। इस प्रकार वैष्णव मत में 'शक्ति' का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु साथ ही यह मत 'शक्ति' को छलनामयी और प्रपंचात्मक मानकर ब्रह्म अथवा विष्णु से इतर स्थान प्रदान करता है। यहाँ 'शक्ति' उच्च है, पर सर्वोच्च नहीं। यहाँ 'शक्ति आदि है पर चरम नहीं।

शैव मत 'शिव' को मूलतत्व तथा आदि-देव मानते हैं। शैव दर्शन में स्त्री रूपा मातृशक्ति का स्थान उत्कृष्ट है। वहां शिव अखिल पुल्लिङ्गता धारण करते हैं और शिवा (शक्ति) अखिल स्त्रीलिङ्गता। इस शिव और शिवा (शक्ति) के संयोग से अखिल विश्व की सृष्टि होती है। शिव-पुराण में कहा गया—

"पुल्लिङ्गमखिलं धत्ते भगवान पुरशासनः।
स्त्रीलिङ्गचाखिलं धत्ते देवी देव मनोरमा॥"
(शिवपुराण, उमा संहिता)

इस प्रकार शैव मत में शिव के मूल स्थान में होने पर भी शक्ति शिव के समकक्ष स्थान पाती है। शैव मत में अर्द्धनारीश्वर की कल्पना के द्वारा शिव और शक्ति का अभेद दिखलाया गया है।

अपने मूलरूप में शाक्तमत साधनापरक अद्वैतवादी विचारधारा है, जिसके अनुसार शक्ति परमतत्व है, जिसमें शिव सदैव अन्तर्मूत रहते हैं। यह चरमतत्व अन्तर्मुखी होने पर शिव तथा बहिर्मुखी होने पर शक्ति है। इसके अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों ही भाव सनातन हैं। सृष्टि के आदि में अनादिकाल से जो अव्यक्त, निराकार, पूर्ण, तत्वातीत, प्रपंचातीत शून्य विद्यमान है, वही 'शक्ति' है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह शून्य अभाव-पूरक है अथवा इसमें 'कुछ नहीं' है। यह 'शून्य' तो सर्वग्राही है, सर्वपरिपूरक है। सर्वपरिपूर्ण है। सर्वपरिपूर्ण होने के कारण ही इसका बोधन-विशेषण शब्दातीत है। शब्दातीत होने के कारण ही इसे 'शून्य' से व्यक्त किया जाता है। इसे 'शून्य' कहने का अर्थ यह है कि इसे व्यक्त अथवा संबोधित करने के लिए कोई शब्द नहीं, कोई भाव नहीं। इसी अर्थ में यह मनसावाचातीत है। यह आदि-शक्ति, भगवती त्रिपुरसुन्दरी, नित्यानन्दमयी, दृश्य-अदृश्य जगत की जन्मदात्री और स्वामिनी है। उत्पत्ति और संहार इसकी लीलाएँ हैं।

पुराणों में शक्तितत्व का नानारूपेण वर्णन मिलता है। वायुपुराण के अनुसार रुद्र की स्त्री शक्ति दो रूपों में है—असित तथा सित। असित रूप में चार देवियों की गणना है—लक्ष्मी, सरस्वती, गौरी तथा उमा। सित रूप में दो देवियां हैं—दुर्गा तथा काली। दुर्गा और काली देवी के सित अर्थात् भयंकर रूप हैं। इन दो रूपों में जगत प्रतिपालिनी आदिशक्तिरूपा देवी जगत की रक्षा और प्रतिपालन के लिए आसुरी शक्तियों का संहार करती है। शिवपुराण के अनुसार 'दुर्गम' नामक असुर के वध के लिए देवताओं की प्रार्थना पर करुणा की वशीभूत जगदमाता जगदम्बा ने दुर्गा का रूप धारण किया। दुर्गासप्तशती के अनुसार धूम्रलोचन, चण्डमुण्ड, मधु-कैटभ,

रक्तबीज, शुम्भ-निःशुम्भ आदि असुरों के वध के लिए देवी को सित रूप धारण करने पड़े।

देवी भागवत् में शक्तितत्व का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'श' ऐश्वर्य का वाचक है तथा 'क्ति' पराक्रम बोधक। इस प्रकार शक्ति ऐश्वर्य और पराक्रम का समुच्चय है तथा शक्ति को साधना पराक्रमयुक्त ऐश्वर्य की साधना है। किन्तु, यह शक्ति का व्युत्क्रम रूप है। अपने मूलरूप में शक्ति सृष्टि की जन्मदात्री, पालिका और संहारिका है।

[दैनिक हिन्दुस्तान से साभार]

●

॥ श्री श्रीरामकृष्ण शरणम् ॥

ब्रह्म और शक्ति का अभिन्नत्व

—योगिनी योगेश्वरी
नागपुर (महाराष्ट्र)

प्रस्तुत लेख भगवान श्रीरामकृष्ण देव, माँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी ने ब्रह्म और शक्ति – के अभिन्नत्व को जिन उक्तियों और उद्धरणों द्वारा दर्शाया है, उनका संकलन मात्र है। कहीं-कहीं गीता और चण्डी द्वारा भी ब्रह्म और शक्ति के एकत्व को प्रतिपादित किया गया है।

यथाग्नेर्दाहिका शक्तिः रामकृष्णे स्थिरता हि या।
सर्वविद्यास्वरूपां तां सारदां प्रणमाम्यहम् ॥

—जो अग्नि में दाहिका शक्ति के समान – रामकृष्ण में स्थित हैं, उन सर्वविद्यास्वरूपिणी सारदा को मैं प्रणाम करता हूँ।

श्री रामकृष्णदेव कहते थे – "वह (माँ सारदा) सरस्वती है, सारदा है, ज्ञान देने संसार में आयी है। वह क्या ऐसी-वैसी है। वह मेरी शक्ति है।"

"अग्नि को छोड़कर उसकी दाहिका शक्ति का, दूध को छोड़कर उसकी धवलता का तथा साँप को छोड़कर उसकी तिर्यक गति का विचार करना असंभव है। उसी प्रकार दाहिका शक्ति को छोड़कर अग्नि का, धवलता को छोड़कर दूध का तथा तिर्यक गति को छोड़कर साँप का चिन्तन नहीं किया जा सकता। वैसे ही ब्रह्म को छोड़कर शक्ति का तथा शक्ति को छोड़कर ब्रह्म का विचार नहीं किया जा सकता।"

माँ सारदा कहती थी—"शक्ति क्या शिव को छोड़कर रह सकती है?"

शिव के वक्षस्थल पर खड़ी माँ काली की प्रतिमा ब्रह्म और शक्ति का अभिन्नत्व प्रकट करती है। ब्रह्म निष्क्रिय है और शक्ति लीला करती है। यहाँ ब्रह्म शिव है। तथा माँ काली – शक्ति है। दोनों के संयोग से सृष्टि आदि का कार्य होता है। काली ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही काली है। ब्रह्म अर्थात् पुरुष और आद्याशक्ति अर्थात् प्रकृति।

ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं—अर्थात् भगवान और भगवती अभिन्न है। हम ब्रह्म अर्थात् भगवान एवं शक्ति अर्थात् भगवती मानते हैं। बंगला ग्रन्थ 'श्री रामकृष्ण-पुँथी' के श्रद्धेय लेखक (अक्षय कुमार सेन) को स्वामी विवेकानन्दजी ने व्यग्र होकर निर्देश दिया था कि ग्रन्थ में ठाकुर के साथ

माँ की भी स्तुति करो। उन्होंने कहा था—"शक्ति को छोड़कर भगवान को उपासना नहीं हो सकती।" श्री रामकृष्णदेव अपने शिष्यों से कहते थे—"उसे (माँ सारदा) और इसे (स्वयं) अभिन्न जानना।" वे एक कथा बताते थे—किसी भक्त ने काली पूजा की। तब माँ को जनेऊ पहनाया। "माँ को जनेऊ क्यों पहनाया, माँ तो देवी है।" ऐसा कहने पर उसने उत्तर दिया—"भाई, तुमने ही माँ को पहचाना है, मैं तो जान न सका, माँ पुरुष हैं या प्रकृति।"

माँ सारदा देवी का कथन है—'अपने ठाकुर महेश्वर भी हैं और महेश्वरी भी।" एक समय मथुर बाबू दक्षिणेश्वर के दफ्तर में अपने काम के साथ-साथ प्रांगण में टहलते हुए श्रीरामकृष्ण देव को निहार रहे थे। इतने में उन्होंने देखा श्रीरामकृष्ण आते समय माँ काली और जाते समय महादेव के रूप में हैं। माँ सारदा ने एक बार योगेन माँ से कहा "योगेन क्या तुम सूखे बिल्व पत्रों से पूजा करती हो? ध्यान करते समय मैंने देखा तुम सूखे विल्वपत्रों से में—पूजा कर रही थी।" उन दिनों योगेन माँ सूखे बिल्वपत्रों से शिवलिंग की पूजा किया करती थी। 'में पूजा कर थीं' का अर्थ—'मेरी पूजा कर रही थी।' ऐसा था।

या देवी सर्व भूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

चंडी में उसी तत्व को देवी (शक्ति) कहा गया और सर्वभूतों में स्थित बताया गया है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। १३-२

अर्थात्—हे भारत! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ (आत्मा) मुझे ही जान।

उक्त दोनों उद्धरण ब्रह्म और शक्ति के अभिन्नत्व पर प्रकाश डालते हैं।

सन् १८८५ ई० की काली पूजा (दीपावली) के अवसर पर अपने शिष्यों द्वारा श्रीरामकृष्णदेव को काली रूप में की गयी पूजा तथा उन्हें 'ब्रह्ममयी' और 'माँ काली' इस प्रकार संबोधन भी सगुण ब्रह्म अर्थात् शक्ति है, ऐसा दर्शाता है। ठाकुरजी की महासमाधि के पश्चात् माँ सारदा देवी ने कहा था—'मेरी माँ काली मुझे छोड़कर चली गयी।"

अर्द्धनारीश्वर की युगल मूर्ति भी ब्रह्म और शक्ति के एकत्व का प्रतीक है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यातममायया॥
गीता: ४-६

अर्थात्—मैं अजन्मा और अविनाशी-स्वरूप होते हुए भी, तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी—अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी (योग) माया के द्वारा प्रकट होता हूँ।

जीव के दुःख से कातर होकर जब निर्गुण परब्रह्म अपनी योगमाया का आश्रय लेकर लीला करते हैं तब उन्हें सगुण परमात्मा कहते हैं। इसी को—श्रीरामकृष्णदेव ने शक्ति की संज्ञा दी है। उनका कहना है—जल स्थिर रहने पर भी जल है और हिलने डुलने पर भी जल है। उसी प्रकार तत्त्व की निष्क्रिय अवस्था ब्रह्म और सक्रिय अवस्था शक्ति कहलाती है। परमतत्त्व के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं। एक निर्गुण निराकार परब्रह्म, दूसरा सगुण साकार ईश्वर। ब्रह्म को 'ॐ' तथा शक्ति को 'ह्रीं' इस मंत्र द्वारा निर्देशित किया जाता है। धर्म मार्ग का अनुसरण करने वाले साधक एक को, अर्थात् ब्रह्म (निराकार) या शक्ति (साकार) को अपने जीवन का लक्ष्य (ध्येय)

बनाकर साधन पथ पर अग्रसर होते हैं। सच्चे साधक तो आपस में मतभेद न करते हुए वस्तुलाभ (ईश्वर लाभ) कर लेते हैं। परन्तु जो कोरे पंडित होते हैं, वे बुद्धि के व्यायाम के लिए तथा अज्ञान-वश ब्रह्म और शक्ति को पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, एवं निरर्थक वाद-विवाद की सृष्टि करते हैं। इस पर कबीरदासजी कहते हैं—

निर्गुण तो पिता हमारा और सगुण महतारी।
काको निंदों काको बन्दों, दोनों पल्ला भारी।।

वेदान्त की सप्तभूमि पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि जीवभाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही अपने स्वरूप को साधन पथ में आनेवाली अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में देखता है। जाग्रत होने पर अनाहत चक्र (हृदय) में आता है तब वह अपनी इष्ट देवी (देव) की मूर्ति अथवा ज्योति के रूप में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। और जब उसका मन विशुद्ध चक्र (कंठ) में आता है तब वह निराकार में ध्यानस्थ हो जाता है और आगे अर्थात् आज्ञा चक्र में ईश्वर के दर्शन तो करता है परन्तु साधक उसे स्पर्श नहीं कर सकता। इन तीनों अवस्थाओं को श्रीरामकृष्णदेव शक्ति का इलाका (क्षेत्र) निर्दशित करते थे। इस अवस्था तक साधक का सूक्ष्म अहं रहता है। जो कि ईश्वर के दर्शन करता है। ये अवस्थाएँ द्वैतभाव तथा विशिष्टा-द्वैत भाव की परिचायक हैं। किन्तु वेदान्त की सप्तम भूमि अर्थात् सहस्रार चक्र में जब शिव शक्ति का मिलन हो जाता है, तब साधक का अह्म ब्रहं में विलीन हो जाता है। यही अद्वैतवाद तथा ब्रह्म और शक्ति का अभिन्नत्व है।

एक राजा ने साधु से एक बात में ज्ञान माँगा। साधु ने दो ऊंगलियों को घुमाते हुए कहा—'राजा देख तमाशा मेरा, राजा देख तमाशा मेरा।" इस प्रकार के कहते ही कहते में उसे (राजा को) दो अंगुलियों के स्थान पर एक ही अंगुली घूमती नजर आयी। साधु ने राजा से स्पष्ट किया कि पहले ब्रह्म और शक्ति दो दिखाई देते हैं। लेकिन बाद में अर्थात् अद्वैतज्ञान के पश्चात् दोनों एक हैं, यह ज्ञान हो जाता है।

श्रीरामकृष्णदेव एक कथा बताया करते थे कि एक ही गिरगिट अनेक रंगों में देखे जाने पर एक बार रंगहीन भी दिखाई दिया। भिन्न-भिन्न रंगों के देखे जाने पर लोगों में विवाद छिड़ा। वृक्ष के नीचे रहने वाले व्यक्ति अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानी' या 'अधिकारी पुरुष' ने समाधान किया कि वह (ईश्वर) बहुरुपिया है। उसके अनेक रूप हैं और फिर वह रंगहीन अर्थात् निर्गुण निराकार भी है।

एक अन्य उदाहरण द्वारा वे समझाते थे—समुद्र में जिस प्रकार ठंड से जल का कुछ अंश हिम में परिणित हो जाता है तथा सूर्य उदित होने पर पुनः जल में रूपांतरित हो जाता है। उसी प्रकार ओर-छोर-रहित अथाह ब्रह्म समुद्र ने भक्ति रूपी ठंड से सगुण साकार रूप धारण किया और ज्ञान सूर्य (अद्वैत ज्ञान) के—उदय के पश्चात् पुनः नित्य में परिणत हो गया।

अरूप सागर में लीला की लहरें,
करुणा पवन उठाये।
एक अखंड अनाद्यनंत वह,
माया से नर तनु धर आये।।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः
।। हरिः ॐ तत् सत् ।।

वेदाङ्ग

—ब्रह्मचारी मोक्ष चैतन्य
बेलुड़ मठ

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष को वेदाङ्ग की संज्ञा दी गयी है। वेद का यथारीति पाठ, अर्थबोध एवं मन्त्रों के क्रिया के साथ विनियोग आदि में सहायक होने के कारण इन्हें वेदाङ्ग अर्थात् वेद का अङ्ग कहा गया है। अतएव वेदाध्ययन करने हेतु वेदाङ्ग का ज्ञान अत्यावश्यक है। वेदाङ्ग सूत्राकार में रचित है तथा इन्हें दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है -- व्याख्यात्मक एवं आचार-अनुष्ठान विषयक। कल्प को छोड़कर बाकी सभी वेदाङ्ग प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं, कल्प द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत है। विभिन्न वेदाङ्गों के संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित हैं।

शिक्षा

जिन ग्रन्थों में वेद के वर्ण, स्वर, मात्रा आदि के ठीक-ठीक उच्चारण एवं प्रयोगविधि लिपिबद्ध है, उन्हें शिक्षा कहते हैं। आधुनिक भाषा में इसे ध्वनिविज्ञान ((Phonetics) कहते हैं। शिक्षा-वेदाङ्ग के प्राचीनतम ग्रन्थावली को प्रातिशाख्य कहते हैं। शब्द से 'प्रातिशाख्य' शब्द प्रतिपन्न हुआ है। इससे पता चलता है कि वेद के प्रत्येक शाखा का अलग-अलग शिक्षा-ग्रन्थ था।

देश, काल एवं व्यक्ति भेद से प्रति वेद की आवृत्ति, उच्चारण, गान आदि की शैली में विविधता ही वेद की विभिन्न शाखाओं की उत्पत्ति का कारण है। गुरु-शिष्य परम्परा से वेद पठित एवं अध्यापित होने के समय इसकी विभिन्न शाखाओं की उत्पत्ति हुई है—'शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्।' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद की क्रमशः एक्कीस, एक सौ, एक हजार एवं नौ शाखाओं के उल्लेख साधारणतः पाये जाते हैं, जिनमें से अधिकांश शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं। एक संहिता की कई शाखाएँ होने पर भी संहिता में कोई परिवर्तन नहीं होता है क्योंकि अध्ययन, आवृत्ति, उच्चारण आदि की रीति में भेद ही शाखाभेद का कारण है; संहिता-भेद शाखा–भेद का कारण नहीं है, आचार्य सत्यव्रत आश्रमी के शब्दों में—

> "अध्ययनभेद एवं शाखा भेद निदानं न तु ग्रन्थभेद इति।
> एकैकवेदस्य अनेक शाखात्वेऽपि तात्त्विक-भेदाभावात् ॥"

एक-एक ऋषि के नाम पर एक-एक शाखा है। शाखा के प्रवर्त्तक ऋषि के नाम पर शाखा का नामकरण हुआ है जैसे-शाकल ऋषि जिस शाखा के प्रवर्त्तक हैं, उसका नाम शाकल शाखा है।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों के अलावे भी परवर्ती काल में शिक्षावेदाङ्ग के कई ग्रन्थ रचित हुए हैं जैसे नारद शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा इत्यादि।

कल्प

वेद के ब्राह्मण भागों में याग-यज्ञादियों के विवरण बहुत ही विस्तृत एवं विभिन्न आख्यायिकाओं से पूर्ण हैं। आख्यायिका आदि अंश को छोड़कर यज्ञानुष्ठान की संक्षिप्त-प्रक्रियादि जिस ग्रन्थ में लिपिबद्ध किये गये हैं उन्हें 'कल्प' कहते हैं। सूत्राकार में रचित होने के कारण इन्हें कल्पसूत्र भी कहा जाता है। कल्पसूत्र की तीन प्रधान श्रेणियाँ हैं—श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र।

प्राचीन वैदिक यज्ञों की प्रणाली जिन सूत्रों में ग्रथित है उन्हें श्रौतसूत्र कहते हैं। गृहस्थों के

द्वारा सम्पादित होने वाले पञ्च महायज्ञों एवं विवाहादि संस्कार जिनमें लिपिबद्ध हैं उन्हें गृह्य-सूत्र कहते हैं। वर्णाश्रमधर्म सम्बन्धी विधि-निषेधादि जिन ग्रन्थों में निबद्ध हैं उन्हें धर्मसूत्र कहते हैं। धर्मसूत्र ही मनुसंहिता आदि स्मृति-शास्त्रों की मूल भित्ति है। वेद के प्रत्येक शाखाओं के अलग-अलग श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र हैं, जिनमें से अधिकांश लुप्त हो गये हैं।

कल्पसूत्र के अन्तर्गत शुल्वसूत्र नामक एक चतुर्थ सूत्रग्रन्थ देखने में आते हैं। विविध प्रकार की यज्ञ-वेदी आदि निर्माण काल में भूमिमाप एवं वृत्ताकार, चतुष्कोण, त्रिकोण आदि ज्यामितीय आकृतियाँ निर्धारण करने के लिए जिन प्रणालियों का अवलम्बन किया जाता था, वे शुल्वसूत्र में लिपिबद्ध हैं। 'शुल्व' का अर्थ है 'माप-कार्य में प्रयुक्त रस्सी-खण्ड'। शुल्व सूत्र आर्यों के ज्यामिति शास्त्र ज्ञान का प्रमाण है।

निरुक्त

जिस कल्प में वैदिक शब्दों के विश्लेषण एवं अर्थ आदि लिपिबद्ध हैं उन्हें निरुक्त कहते हैं। वैदिक दुरुह शब्दों की व्याख्या एवं प्रयोग दर्शाना ही निरुक्त-शास्त्र का उद्देश्य है। एकमात्र यास्काचार्य रचित निरुक्त अभी उपलब्ध है। निरुक्त ग्रंथ में वैदिक ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं अद्भूत गवेषणा-शक्ति का परिचय मिलता है।

व्याकरण

किसी भी शास्त्र अथवा साहित्य के अध्ययन एवं अर्थबोध के लिए व्याकरण की गुरुत्वपूर्ण भूमिका सर्वविदित है। व्याकरण की प्रयोजनीयता को देखते हुए इसे वेदाङ्गों में प्रधान माना गया है—'षड्ङ्गेषु पुनर्व्याकरणम् प्रधानम्।' वेदाङ्ग के रूप में अभी केवल पाणिनि रचित अष्टाध्यायी नामक व्याकरण-सूत्र पाये जाते हैं अष्टाध्यायी में वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के व्याकरण-सूत्र हैं। अष्टाध्यायी के ऊपर महर्षि पत्तञ्जलि ने महाभाष्य की रचना की है।

छन्द

वेदमन्त्र पाठ करने के लिए छन्द का ज्ञान अत्यावश्यक है। वेदों के अधिकांश मन्त्र छन्दोवद्ध हैं। पिङ्गल ऋषि विरचित छन्दसूत्र को वैदिक छन्द का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है इसमें लौकिक छन्दों के भी वर्णन हैं।

ज्योतिष

प्रत्येक श्रौत एवं गृह कर्मों के लिए विशेष काल, तिथि, ऋतु आदि का विधान है। अतएव राशि, नक्षत्र, अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, संवत्सर आदि का ज्ञान नहीं रहने पर यज्ञों का अनुष्ठान असम्भव है। इसके अतिरिक्त कई वेद मन्त्रों के अर्थबोध के लिए भी इन विषयों की जानकारी आवश्यक है। ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई है। इसे काल-विज्ञान शास्त्र भी कहा जाता है तथा यह गणित शास्त्र पर आधारित है। लगधमुनि एवं शेषमुनि रचित ज्योतिष शास्त्र उपलब्ध हैं।

वेद के षड़ङ्गों का यही संक्षिप्त परिचय है। वेदाध्ययन में इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए इन्हें वेद के निम्नलिखित अङ्गों के रूप में वर्णन किये गये हैं—

"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथपठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुनिरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुख व्याकरणं स्मृतम्।"

—अर्थात् छन्द वेद के पैर, कल्प हाथ, ज्योतिष नेत्र, शिक्षा नाक तथा व्याकरण मुख हैं।

वेदाङ्ग के अतिरिक्त वेदाध्ययन में सहायक अन्य ग्रन्थों को उपाङ्ग या परिशिष्ट कहा जाता है। अनुक्रमणी आदि ग्रन्थ इस श्रेणी के हैं।

औघड़ परंपरा और काशी के अवधूत भगवानराम

—सर्वदानंद

जेठ की आग उगलती दुपहरी, सूनी सड़क, बैठक की एक खिड़की गली में कुएं की ओर खुलती थी। आठ-नौ वर्षों का था तब मैं। वाराणसी भी आज जैसी न थी, उसकी वयस लगभग पचास वर्ष कम थी। मुख्य सड़कों पर म्युनिसिपैलिटी के मिट्टी के तेलवाले लैंप दूर-दूर पर लगे थे, जिन्हें रातों को आदमी आ कर जलाता था।

खिड़की में खड़ा कुएं की जगत से लगी कच्ची नाली देख रहा था, जिसमें न जाने कहां से निरंतर आता हुआ गंदा, दुर्गन्ध भरा पानी बह रहा था। तभी जैसे समूची मरुभूमि की दुरतिक्रम प्यास लिये, गंभीर गिरा से कुछ उच्चार करता बाघंबर-धारी, एक हाथ में त्रिशूल और एक में खप्पर लिये, जटाजूट युक्त एक विकट आकृति का व्यक्ति वहाँ आया। एक क्षण रुक कर कुएं को और आसपास के सन्नाटे को देखा। फिर घुटनों के बल बैठ खप्पर भर-भर नाली का वही अत्यंत घिनौना पानी पीने लगा। मैं डर कर खिड़की से हट आया।

दादी ने बताया – वह अघोरी था, अघोरी। इन लोगों को कुछ भी खाने-पीने में कोई विचार नहीं है। इनके लिए सब बराबर है," और भय दूर करने के लिए आंचल में छिपा लिया।

किन्तु जिस बालक का भय उस दिन दादी की गोद में दुबक कर दूर हुआ था वही मैं अब उत्तर भारत के प्रचंड औघड़ संत किनाराम बाबा की परंपरा में बारहवीं पीढ़ी के परम सिद्ध औघड़ भगवानराम के चरणों में निर्भय होकर बैठता हूँ, और शायद श्री सरकार के किंचित् स्नेह का पात्र भी हूँ।

औघड़ का कोप और वरदान

हमारी वंश-परंपरा एक औघड़ महात्मा की कृपा से ही चल रही है। काशी राज्य के संस्थापक भूमिहार राजा बलवंत सिंह के बाद उनकी क्षत्राणी पत्नी पन्ना से उत्पन्न पुत्र चेत सिंह गद्दी पर बैठे। रामनगर में तो किला था ही, पर हवेली शिवाला मुहल्ले में भी थी, हेस्टिंग्स द्वारा कैद किये जाने की योजना जान कर इसी हवेली से वे भरी गंगा में कूद कर भागे थे। हमारे पुरखों में एक थे सदानंद, जो बलवंत सिंह के समय उनके बख्शी थे और चेतसिंह के समय दीवान जैसे माने-जाने लगे थे।

शिवालेवाली हवेली में चेतसिंह शिवमूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करवा रहे थे। सब दरबारी, काशी के ब्राह्मण-पंडित तथा कर्मचारी उपस्थित थे। उस समय किनाराम बाबा को आत्मलीन हुए कुछ वर्ष बीत चुके थे, काशीस्थ क्रीं कुंडवाली गद्दी पर उनके परम शिष्य महात्मा विराजमान थे। चेत सिंह को औघड़ सिद्धों से चिढ़ थी। उस दिन से पहले दो-तीन बार महात्मा का अपमान कर चुके थे। प्राण-प्रतिष्ठावाले दिन भी उनका कड़ा आदेश था कि अघोरी महात्मा को अंदर न आने दिया जाये। लेकिन ठीक प्राण-प्रतिष्ठा के क्षण बाबा एक हाथ से मुर्दे की टांग घसीटते, लाल आँख किये उपस्थित। चेतसिंह ने खुलकर अपशब्द कहे, दरबारी और कर्मचारी चुप। अंत में बाबा ने कहा—"तुम्हारा राज्य तुम्हारे हाथ से चला जायेगा। तुम्हारे वंश में कोई पानी देनेवाला उत्पन्न न होगा और तुम्हारे इन दरबारियों के वंश में भी कोई न रह जायेगा।" बाबा जैसे आये थे, वैसे ही चले गये।

बात सत्य हुई। हमारे बख्शी सदानंद धर्मभीरु व्यक्ति थे। महात्मा को अकेले कहीं पाने की चेष्टा में लगे रहे। एक दिन सफल हुए। रो कर सब बता गये। अपनी विवशता भी। संतों का दिल दरियाव। बाबा ने पूछा—"तेरा नाम?" "—सदानंद।"

एक क्षण रुक कर महात्मा ने कहा—"जा, तुझे क्षमा करता हूँ। तेरे नाम के पीछे 'आनन्द' जुड़ा है। जब तक वंश में लड़कों के नाम में 'आनन्द' लगा रहेगा, तेरा वंश चलेगा। कोई बाहरी अनिष्ट भी न होगा, यों मरना-जीना तो शरीर का धर्म है।"

तब से 'आनंद' का सिलसिला चला, जिसकी प्रमुख कड़ी थे स्वर्गीय डॉ० संपूर्णानंद। यह क्रम आज तक चल रहा है।

जो शिवा है, वही अघोरा है

अवधूत, औघड़ या अघोर शक्ति-साधक होते हैं। हजारों वर्ष पूर्व आज के 'औघड़' शब्द का संस्कृत रूप 'अघोर' ही प्रचलित था। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्र को कल्याणकारी, मंगलमूर्ति को 'शिवा' की संज्ञा दी गयी है। जो शिवा है, वही अघोरा है। तंत्रशास्त्रों की मान्यता है कि मूल रूप से शिव और शक्ति अभिन्न है। रुद्र अघोरा शक्ति से नित्यसंयुक्त रहने के कारण ही शिव हैं। इसी शक्ति को भिन्न-भिन्न प्रयोजनों और रूपों के कारण त्रिपुर सुन्दरी, कामेश्वरी, मातृका, त्रिपुरा, खेचरी और सर्वेश्वरी आदि कहा गया है—वही शक्ति महाशक्ति है। खेचरी ब्रह्म की शक्ति है; जिसके कारण वह सृष्टि, स्थिति और लय में समर्थ है। दुर्गा सप्तशती में 'सर्वेश्वरी' के रूप में ब्रह्म की इसी खेचरी शक्ति का स्मरण किया गया है। शक्ति के इसी रूप का साक्षात्कार कर पाने में जो साधक समर्थ है, वही 'औघड़' विशेषण से विभूषित हो सकता है।

'औघड़' को सर्वेश्वरी सिद्धि ही उसे दीन, दुखी, दरिद्र, समाज के ठुकराये, शोषित, रोगी-अपाहिज और पतित भाई-बहनों की सेवा में अहर्निश निरत रखती है। उसकी शक्ति-साधना बिना प्रचलित मान्यताओं, संस्कारों और रूढ़ियों-परंपराओं का अवधूनन किये संभव नहीं, इसलिए वह जनसामान्य के रीति-रिवाजों और मान्यताओं की सतत् उपेक्षा करता है, अवधूत है। उसके लिए कोई वर्जना नहीं, कोई निर्धारित आचार का बंधन नहीं।

काशी भगवान शंकर की नगरी है। तभी यहाँ औघड़ों की, अवधूतों की एक अशेष धारा चली आ रही है। शिव को भी अघोरेश्वर कहते हैं। उनका अनोखा वेश देखिए। परम योगी साथ ही शक्तिरूपा पार्वती से अभिन्न! भगवान दत्तात्रेय ने भी अवधूत मत का प्रचार किया। फिर बाबा कालूराम और किनाराम जी से यह परंपरा चली। शैव लोग संन्यास आश्रम की सिद्धावस्था को अघोर कहते हैं। वही औघड़ है, अवधूत है। विचित्र वेशभूषा भी हो सकती है। दिगंबर भी हो सकते हैं। गृहस्त भी हो सकते हैं, संन्यस्त भी।

शिव-शक्ति सायुज्यता की औघड़ साधना में भैरवी जरा-मरण, भयविनाशिनी तथा सौभाग्य-दात्री मानी जाती है। किन्तु भैरवी शक्ति के बिना भी साधना संभव है। साधक को भैरवी का मानसिक चिंतन वर्जित है। शक्तित्व की साधना अत्यंत रहस्यमय और दुरुह है।

अब अधिकतर औघड़ों की वेशभूषा भयावह नहीं रह गयी है—लोक जीवन और लोकमंगल से जो दूर हैं, उनकी बात अलग। बाह्याचार भी घृण्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु औघड़ पंथ की गुह्य साधना-प्रणाली, स्थितियां तथा साधनों के उपकरण सामान्य जन के लिए ग्राह्य तथा बोधगम्य नहीं। उनकी श्मशान-साधना का, पंच-

महामांस और पंच-मंकार सेवन का, साधना काल में लाल लंगोटे, नीले-काले वस्त्रों के उपयोग तथा साधना से ऊपर उठ जाने पर श्वेत वस्त्र धारण का रहस्य बहुत गहन है। कपाल पात्र का उपयोग भी गूढ़ार्थ रखता है।

बाबा किनाराम की परंपरा

काशी के औघड़ों, सिद्धों की परंपरा को किनरामी औघड़ परंपरा कहते हैं। बाबा किनाराम वाराणसी की चंदौली तहसील के रामगढ़ ग्राम के थे। रघुवंशी क्षत्रिय, जन्म संवत् १६५८। १५-१६ वर्ष की वय में घर छोड़ दिया। पहले वैष्णव गुरु किया, फिर काशी के श्मशान हरिश्चन्द्र घाट पर औघड़ बाबा कालूराम के शिष्य हुए। कालूराम स्वयं भगवान दत्तात्रेय थे, जो किनाराम जी को दीक्षित कर उन्हीं में समा गये। उनके ही निर्देशित स्थल क्रीं कुंड (शिवाला, वाराणसी) पर किनाराम बाबा की प्रधान गद्दी है। औघड़ों का सवप्रसिद्ध तीर्थस्थल है गिरनार पर्वत (गुजरात), जहां आज भी अवधूत सिद्ध को दत्तात्रेय जी का दर्शन होता है। औघड़ भगवानराम गिरनार पर दत्तात्रेय जी के दर्शन पा चुके हैं।

किनाराम जी का जीवन लोकसंग्रही था। शक्ति-सिद्ध चमत्कार के लिए चमत्कार नहीं दिखाता इसकी स्पष्ट वर्जना है। लोकमंगल जनार्त्ति-निवारण के लिए संत जो कुछ कर दे, वह उसकी प्रकृति है। प्रसिद्धि है कि क्रीं कुंड स्वयं बाबा किनाराम जी, की तपस्या से अत्यंत चमत्कारी हो उठता है। यहीं बाबा की समाधि है। महंत गद्दी के सम्मुख श्मशान से एकत्र लकड़ियों की अखंड धूनी जलती रहती है। कोई दुर्गन्ध नहीं। उसी पर पका भोजन वहाँ रहनेवाले करते हैं। प्रांगण के मध्य में औघड़ तख्त रखा है। किनाराम जी के गुरुनाम के अंत में राम लगा था—कालूराम-तभी संभवतः उनको परंपरा, क्रीं कुंड स्थित प्रधान गद्दी में लगे शिलापट्ट के अनुसार, काशी में इस प्रकार हैं :—

(१) बाबा कालूराम (२) महाराज किनाराम, (३) बाबा बीजाराम, (४) बाबा धौताररराम, (५) बाबा गइबीराम, (६) बाबा भवानीराम, (७) बाबा जयनारायण राम, (८) बाबा मथुराराम, (९) बाबा सरयूराम, (१०) बाबा दलसिंगाराम, (११) बाबा राजेश्वरराम।

सब एक-से-एक मस्तमौला, घनघोर साधक और लोकार्तिहर्ता। प्रथम दस पर्दा कर चुके हैं, इस समय बाबा राजेश्वर राम गद्दी के महंत हैं। औघड़ संत केवल काया से ही समाधि में रहते हैं, ऐसी मान्यता है।

और अब बारहवीं पीढ़ी में औघड़ भगवानराम। आप सात वर्षों की वय में ही घर से बाहर रहने लगे। बिहार के एक प्रतिष्ठित जमींदार के एकमात्र, पुत्र होते हुए भी सब कुछ छोड़ १५ वर्ष की वय में काशी चले आये। बाबा का जन्मस्थान गुंडी ग्राम में पहले भी कुछ महात्मा हुए थे। बाबा के जन्म पर पिता ने कहा कि घर में भगवान ने जन्म लिया है, जो सबका उद्धार करेंगे।

काशी आने पर कैसे एक तेजोमयी वृद्धा ने उन्हें विश्वनाथ-दर्शन कराया और कैसे बाबा किनाराम को गद्दी पर पहुँचाया, यह सब भी एक रहस्य-कथा है। भगवानराम की औघड़ साधना विकट रही है, यद्यपि वय अभी लगभग चालीस वर्ष है। उनके लोककल्याणकर चमत्कारों की चर्चा उन्हें रुचिकर नहीं, इसी से नहीं कहूँगा। वे कहते हैं—"मैंने अपनी साधना के लिए गृहत्याग किया है। समाज का त्याग नहीं किया है।"

भगवानराम की अवधूत साधना का प्रत्यक्ष उदाहरण है श्री सर्वेश्वरी समूह, जिसके अंतर्गत भगवानराम कुष्ठ सेवाश्रम चल रहा है, नर्सरी

शिक्षालय है, छोटा-सा प्रेस है तथा अन्य कुछ प्रदेशों में भी आश्रम हैं, जिनके द्वारा जनसेवा के अनेक कार्य-संपन्न होते हैं। काशी में सर्वप्रथम अस्पताल खोलकर समाज के अछूत कुष्ठियों की सेवा का व्रत भगवानराम ने लिया। देश भर के कुष्ठ रोगी यहां आते हैं, रहते हैं और आयुर्वेदिक पद्धति से बाबा के संरक्षण में उनकी चिकित्सा होती है। प्रधान चिकित्सक हैं पंडित मदनमोहन मालवीय के दौहित्र पंडित शिवकुमार शास्त्री। निःशुल्क चिकित्सा, निवास और भोजन, वस्त्र। दुर्भाग्य से निधन हो जाने पर अनाथ रोगी की अंत्येष्टि भी।

भगवान विश्व-भ्रमण कर आये हैं। देश भ्रमण तो करते ही रहते हैं। भक्तों में देश के बहुत बड़े-बड़े लोगों को मैंने स्वयं बाबा के पास आते देखा है। गुरु पूर्णिमा पर देश भर से हजारों व्यक्तियों का हुजूम टूट पड़ता है। तीन दिनों तक मेला-सा लगा रहता है। अंत्यज, धनी-निर्धन, वेश्या सब दरबार में बैठ सकते हैं। बाबा ने विवाह कराये है, केवल एक रुपये पर। अब भी होते रहते हैं।

शिवभक्ति-साधक औघड़ सिद्धों की एक लंबी शृंखला है—अनवरत धारा है, जो हजारों वर्षों से बहती आ रही है। गृहस्थ भी इनमें हैं, गृह-त्यागी भी। जनपदों से संपर्क रखनेवाले भी इनमें हैं, वनप्रांतरवासी भी। दिगंबर भी, श्वेतवस्त्रधारी भी। प्रकट भी हैं, ओट में रहकर साधना करने वाले भी। साधना की चरमावस्था पा लेने पर एक अवधूत अपनी उपलब्धि विश्वभर में बांट देना चाहता है। वह चाहता है :

सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद्दुःख भाग् भवेत्॥

[धर्मयुग, १० अगस्त, १९७५ के अंक से साभार-सं.]

पवित्रता का आभामंडल : कन्याकुमारी

— राजेन्द्र उपाध्याय

'कन्याकुमारी' का नाम लेते ही आंखों में तैर जाती है शिव को वर-रूप में पाने के लिए कठोर तप करती कन्या पार्वती। युग-युग से देवी के तपोस्थल पर बना उनका चरणचिह्न पूजा जाता रहा है और आज भी श्रीपाद के रूप में पूजा जाता है। स्थानीय लोगों का कहना है कि पहले कन्याकुमारी का मंन्दिर शिला पर था, परन्तु समुद्र के स्थल की ओर विस्तार के कारण उसे छोड़ पड़ा देना, बाद में मुख्य भूमि पर वर्तमान मन्दिर बना।

जनश्रुति और परम्परा ने कन्याकुमारी को पवित्रता का आभामंडल दिया है। यहां कई कथाएं कही जाती हैं, संतों और भक्तों के विषय में, जिन्होंने देवी के मनोहारी पर्वतों और उपत्यकाओं में प्रश्रय किया, इस उर्वराभूमि की सदानीरा नदियों और धाराओं का जल पिया और सागरों के संगम पर स्नान करके धन्य हुए।

माना जाता है कि लक्ष्मण की मूर्छा दूर करने के लिए हनुमान जब संजीवनी बूटी सहित द्रोणाचल पर्वत को उठा कर ला रहे थे, उस

समय पर्वत से कुछ शिलाखण्ड कन्याकुमारी की भूमि पर गिर पड़े, इसलिए आज भी कुछ पहाड़ियों पर दुर्लभ औषधि एवं जड़ी-बूटियाँ पायी जाती हैं। इसी कारण महान वैद्याचार्य अगस्त्य मुनि औषधियों की खोज में कन्याकुमारी के पर्वतों में विचरण करते अंततः 'अगस्त्यकुंडम' पर टिक गये और उसे अपना निवास बनाया।

इस युग में एक और तपस्वी आये कल के प्रति श्रद्धा पर भरा हृदय लेकर तप करने के लिए— स्वामी विवेकानन्द। अपने देशवासियों को दरिद्रता, अज्ञान और दासता के बन्धनों से मुक्त करने के लिए उन्होंने जो तप किया उसकी मिसाल विश्व में अन्यत्र और कहीं ढूँढनी मुश्किल है। नाविक की मजदूरी के पैसे न रहने पर मुख्य भूमि में से श्रीपाद शिला तक का ५५० गज का शार्क मच्छों से घिरा विशाल सागर स्वामीजी ने तैर कर पार कर लिया था। उनके पीछे-पीछे नाव में केले और नारियल की भेंट ले कर लोग आये। स्वामीजी ने यह भेंट भी अस्वीकार कर दी और शान्ति से रहने देने के लिए कहा। शिला पर एकाग्रचित स्वामीजी तीन दिन तीन रात तक लगातार ध्यानावस्थित रहे। तब जा कर उन्हें निष्काम भाव से, मानवता की सेवा के माध्यम से ईश्वर की सच्ची सेवा के चिरंतन उपनिषदीय संदेश की सत्यता का भान हुआ। वे जान गये कि भारत का गौरव के शिखर से पतन क्यों हुआ और त्याग तथा निःस्वार्थ सेवा द्वारा राष्ट्र का गौरव पुनः कैसे लौटाया जा सकता है।

यही श्रीपाद शिला बाद में विवेकानन्द शिला नाम से जानी जाने लगी। कन्याकुमारी की यात्रा के बाद १९२५ में महात्मा गांधी ने 'कन्याकुमारी का दर्शन' शीर्षक लेख लिखा, जिसमें वे विवेकानंद के बारे में लिखते हैं—"उस शिला पर विवेकानन्द ध्यान लगाते थे। सागर की लहरों का वीणा की मृदुल झंकार जैसा संगीत किसी को भी ध्यानावस्थित कर सकता है। यहाँ मेरी धार्मिक उत्कंठा और प्रबल हो गयी। सीढ़ियों के पास ही एक मंच है, जिस पर सौ व्यक्ति आसानी से बैठ सकते हैं। मेरा मन वहाँ बैठ कर गीतापाठ करने का हुआ। आखिर मैंने उस पवित्र अभिलाषा को भी दबा दिया। मैं मौन बैठा रहा। मेरे मन में गीता के उपदेश की छवि बसी थी।"

जैसा कि हमने आरम्भ में कहा, कन्याकुमारी ने अपना नाम कन्या पार्वती से पाया। एक जन-श्रुति के अनुसार, आकाश, पाताल और धरती को विजित करके राक्षसराज भाण ने देवलोक पर आक्रमण किया। हताश देवताओं ने शिव से रक्षा हेतु प्रार्थना की। शिव ने आश्वासन दिया कि पार्वती कुमारी कन्या के रूप में भाण का नाश करने के लिए अवतरित होंगी। कन्या के रूप से मोहित हो कर राक्षसराज ने उसका पीछा किया। भीषण युद्ध के बाद राक्षसराज मारा गया। आज भी नवरात्रि के दिनों में पल्लिवेट्टा लोकनृत्य के माध्यम से इस कथा को दोहराया जाता है।

राक्षस को हरा कर देवी कन्या ने शिव (शुचीनुम मन्दिर के अधिष्ठित देवताओं में से एक) का वरण करना चाहा। शिव सहमत हो गये, परन्तु नारद मुनि की चाल के कारण वे निश्चित मुहूर्त पर विवाह स्थल पर नहीं पहुँच पाये। कन्याकुमारी (पार्वती) ने क्रुद्ध हो कर अपने समस्त आभूषण फेंक दिये। यह माना जाता है कि कन्या के आभूषण ही रंगबिरंगी रेत बन कर समुद्र तट पर चारों ओर फैले हैं।

स्थानीय मान्यता के अनुसार, एक शिला पर स्थित मूल मंदिर जब आगे बढ़ते हुए समुद्र के कारण छोड़ दिया गया तब मुख्य भूमि पर वर्तमान मंदिर बनाया गया। मंदिर का मुँह पूर्व

में समुद्र की ओर है, परन्तु सिंहद्वार वर्ष में केवल पाँच बार खोले जाते हैं। कहते हैं कि देवी की नाक के हीरे की चमक से दिग्भ्रमित होकर बहुत-से जहाज चट्टानों से टकराकर नष्ट हो गये इसलिए पूर्वी कपाट सामान्यत: बन्द ही रखे जाते हैं।

मंदिर के दक्षिणी भाग से बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और हिन्द महासागर के संगम का दृश्य दिखाई देता है।

कहा जाता है कि सीता की खोज में श्रीराम कन्याकुमारी के तट पर आये थे, स्वयं देवी ने उन्हें रामेश्वर भेजा। इसलिए श्रद्धालु हिन्दू पवित्रता और भक्ति भावना से समुद्र तट के राजसी सौंदर्य का दर्शन करते हैं।

कन्याकुमारी से कुछ दूरी पर स्थित शुचीन्द्रम मंदिर में संगीतमय स्तंभ, हनुमान की १६ फुट ऊँची प्रतिमा और शंख-सीपियों के चूर्ण में बना नन्दी है। त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को समर्पित गिने-चुने मन्दिरों में से यह एक है। जनश्रुति है कि त्रिमूर्ति ने ऋषि अत्रि और उनकी पत्नी अनुसूया को लिंग के रूप में दर्शन दिए, शापग्रस्त अहिल्या का शीलभंग करने पर उसके पति गौतम ऋषि ने इन्द्र को शाप दिया। अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिए इन्द्र ने यहाँ तप किया। इन्द्र की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव प्रकट हुए और उसे शापमुक्त किया। लोगों का विश्वास है कि आज भी इन्द्र आधी रात को मन्दिर में पूजा करता है।

मन्दिर के आस-पास समुद्र तट पर एक विचित्र वृद्धा घूमती रहती है जो अपने जीवन-काल में ही जनश्रुति बन गयी है। यह झुर्रियों भरी, सफेद बालों वाली, कई पतझरों की साक्षी वृद्धा बड़ी शांतरूपा और निर्विकार है। माई के नाम से प्रसिद्ध इस वृद्धा को लोग भयमिश्रित श्रद्धा से देखते हैं। इसके भक्त अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए इसका आशीर्वाद माँगते हैं।

अद्वैत के संदेश का भारत में प्रचार करने वाले, विभिन्न मतामत के अनुयायियों को हरा कर एकात्मता के सूत्र में पिरोने वाले आदि शंकराचार्य का स्मृति स्थल भी यही है।

[हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, १० सितम्बर, ६२ से साभार]

●

हिन्दू लोग राजनीति, समाजविज्ञान और दूसरा जो कुछ है, सब को धर्म के माध्यम से ही समझ सकते हैं।

हिन्दू धर्म की तीन सारभूत बातें हैं—ईश्वर में, श्रुतिरूप वेदों में, कर्मवाद तथा जन्मान्तरवाद के सिद्धांत में विश्वास।

गीता और गंगा में हिन्दुओं का हिन्दुत्व है।

देवलोक

—ब्रह्मलीन स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवादक—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट।

कनखल आश्रम में दुर्गा पूजा

१९०२ ई० में काशी अद्वैत आश्रम में ठाकुर, स्वामी और वाद में बाणलिंग, महावीर और माँ काली आदि की प्रतिज्ञा करके जितने दिन महापुरुष महाराज काशी में थे उतने दिन अधिकांशतः वे स्वयं पूजा करते। बाद में १९१२ ई० में श्री श्रीमाँ स्वास्थ्य—सुधार एवं विश्राम के लिए अन्तिम बार जब ढाई महीने से अधिक काशी में थीं तब काशी से जाने के कुछ दिन पहले अद्वैत आश्रम के पुराने ठाकुर घर में अपनी छवि को पूजा करके उसे स्वयं प्रतिष्ठित किया एवं चन्द्र महाराज को इसकी नित्य पूजा का आदेश दिया। तभी से अद्वैत आश्रम मन्दिर में ठाकुर के साथ अन्तिम बार काशी आने के प्रसंग में योगीन महाराज आदि के द्वारा विशेष भाव से अनुरोध किए जाने पर महापुरुषजी ने एक दिन कहा था : 'इस वर्ष कनखल में दुर्गापूजा करने का विचार करके महाराज मुझको, हरि महाराज एवं केदार बाबा आदि को साथ लेकर कुछ महीने पहले ही कनखल आश्रम में उपस्थित हुए एवं धीरे-धीरे सेवाक्षेत्र में प्रतिमा में दुर्गापूजा आरम्भ किया। यथासमय प्रतिमा कलकत्ते से आयी। हरि महाराज ने नवरात्रि में चण्डी पाठ किया था। तारासार भट्टाचार्य ने संकल्प करके तीन दिन तक चण्डी पाठ किया था। ब्रह्मचारी प्रकाश ने पूजा किया था। इस प्रकार महाराज की चेष्टा से कनखल में पहली बार प्रतिमा में पूजा हुई। इधर महाराज के आदेश से इस वर्ष बेलुड़ मठ में भी श्री श्रीमाँ की उपस्थिति में प्रचुर आन एवं समारोह के साथ प्रतिमा में दुर्गापूजा अनुष्ठित हुई। कनखल में इस पूजा के उपलक्ष्य में महाराज ने विभिन्न अखाड़ों के बहुत से साधुओं को निमन्त्रण करके एक बड़ा पक्का भंडारे का आयोजन किया। इससे महाराज के निमंत्रण से सभी अखाड़ों के कई सौ साधुओं ने कनखल आश्रम में दुर्गा माई का पक्का प्रसाद खाया था। इसके पहले हमलोगों के किसी भी आश्रम में दशनामी सम्प्रदाय के साधु लोग पंक्ति भोजन नहीं करते थे। हमलोगों को "भंङ्गी साधु" कहते थे। कनखल सेवाश्रम में हमलोग रोगियों के "गू-मूत्र" तपास कर सेवा करते, इसलिए उनकी दृष्टि में हमलोग निकृष्ट "भंङ्गी साधु" थे। परन्तु धनराजगिरीजी, कल्याण स्वामी और निश्चय स्वामी हमलोगों की अपूर्व निष्काम सेवा देखकर मुग्ध होने के बाद वहाँ के साधु-समाज का दृष्टिकोण बदल गया। वे लोग श्रद्धा सम्पन्न हो गये।

श्री श्रीमाँ के सम्बन्ध में महापुरुषजी की स्मृतियाँ—

'कनखल में जब दुर्गापूजा का आयोजन चल रहा था तभी शरत महाराज के पास से महाराज दुर्गापूजा के बाद काशी में आकर श्री श्रीमां के कुछ दिन रहने का समाचार पाया था एवं उसी के अनुसार महाराज ने उस बार काशी अद्वैताश्रम में प्रतिमा में कालीपूजा और जगद्धात्री पूजा की व्यवस्था की। दुर्गापूजा के कुछ दिन बाद ही

महाराज हमलोगों को काशी ले आये। महाराज और हरि महाराज सेवाश्रम में थे, मैं अद्वैताश्रम में था। काली पूजा के तीन दिन पहले श्री श्रीमाँ राधी, राधीकी आदि के साथ काशी आयी थीं। वे आते ही पहले अद्वैताश्रम के मंडप के उत्तर में ठाकुर घर के पास के एक घर में साथियों के साथ कुछ देर विश्राम किया साथ कुछ खाकर एवं सभा का प्रणाम ग्रहण करके सभी को आशीर्वाद देकर पहले की व्यवस्थानुसार आश्रम के पास बाग बाजार के दत्तक लोगों के "लक्ष्मीनिवास" नामक नयी घर में गयी। यह घर उसी समय नया बना था। श्री श्रीमाँ– ही सर्वप्रथम उसमें गृह प्रवेश किया। हम लोगों की माँ ही तो स्वयं लक्ष्मी— स्वयं जगज्जननी! भक्तों ने इसीलिए श्री श्रीमाँ से गृह प्रवेश करवाया था। श्री श्रीमाँ सभी को लेकर इस घर में प्राय: अढ़ाई महीने रही। "लक्ष्मीनिवास" आज इसीलिए महातीर्थ हो गया है।' कालीपूजा के दिन प्रात:काल श्री श्रीमाँ पालकी से सेवा घूम-घूम कर देखी।···उनके पालकी के साथ केदार बाबा और खगेन (स्वामी शान्तानंद) वे सभी थे। सेवाश्रम का कामकाज देखकर श्री श्रीमाँ प्रसन्न होकर बोली—'यहाँ ठाकुर साक्षात विराजमान देखा हैं।···सेवाश्रम का ठाकुर का ही कार्य है।···माँ—लक्ष्मी ने भी वहाँ आवास लिया है।" एवं निवास स्थान में आकर एक सन्तान के हाथ से एक दस रुपये का नोट दानस्वरूप सेवाश्रम में भेज दिया (यह नोट अभी भी सेवाश्रम के ऑफिस में यत्न पूर्वक रक्षित है।)

'उसी वर्ष श्री श्रीमाँ की उपस्थिति में महाराज ने अद्वैताश्रम में १८ नवम्बर को जगद्धात्रीपूजा का आयोजन किया था एवं जगद्धात्रीपूजा जीवन्त जगद्धात्रीपूजा में परिणत हुई थी। पूजा के समय जब श्री श्रीमाँ उपस्थित होकर मंडप में कुछ देर तक रही, तब सभी ने माँ में जगद्धात्री के दिव्य आविर्भाव का अनुभव करके धन्य हुए।

'श्री श्रीमाँ काशी आकर ही तीर्थयात्रियों की तरह संकल्प करके पाठक-ठाकुर से प्राय: दो महीनों तक काशी खण्ड पुराणपाठ सुना था। पाठ पूरा होने पर कई ब्राह्मणों के साथ पाठक– ठाकुर को घट, ग्लास इत्यादि और भोजन—दक्षिणा देकर भोजन कराया था। ब्राह्मण के भोज बाद उनके मन में साधु—भोजन देने की इच्छा हुई। उन्होंने एक दिन गोलाप माँ से राखाल महाराज को बुलवाया और कहा कि उस दिन उन सभी को स्वयं पका कर भोजन कराएँगी। उनका निमंत्रण पाकर हमलोगों की आनन्द की सीमा न रही। श्री श्रीमाँ हमलोगों को खिलाएंगी इससे बढ़कर और क्या हो सकता है। उस दिन प्रात:काल स्नान करके भस्म आदि लगाकर मैं राखाल महाराज और हरि महाराज तीनों लोग माँ के घर गये। वे हम लोगों के लिए अपेक्षा कर रही थी।

राखाल महाराज तो जाते ही नीचे से साष्टांग प्रणाम कर हाथ जोड़कर बोले: "माँ हमलोगों का एक निवेदन है। पहले आप खाइए। हम लोग आपका प्रसाद पाएँगे।" यह कर श्री श्रीमाँ ने गोलाप– माँ के द्वारा कहलवाया— "राखाल को कहो कि माँ बच्चों को न खिलाकर क्या स्वयं खा सकती है? बच्चों को खिलाने के बाद मैं खाउँगी तथा सभी को प्रसाद दूँगी।" उनकी बात के ऊपर और किसी की बात नहीं चलता। हम तीनों जने नीचे के हॉल घर में खाने के लिए बैठ गये। माँ दरवाजे के पीछे से सभी को अच्छी प्रकार से खिलाने लगीं। भोजन पूरा होने के साथ-ही-साथ श्री श्रीमाँ हमलोगों में से प्रत्येक को एक रुपया दक्षिणा तथा एक नया धोती दिया। वह पाकर हमलोगों को इतना आनन्द हुआ कि महाराज तो बिना मुँह हाथ धोए ही नया कपड़ा

सिर पर बाँधकर "जय माँ जय माँ" कहते हुए आनन्द से हाथ ताली देकर नाचने लगे, हम लोग भी उनके साथ-साथ नाचने लगे। श्री श्रीमाँ यह देखकर खूब आनन्द करने लगी। महाराज जब भी श्री श्रीमाँ का दर्शन करने जाते उनको भाव हो जाता। अश्रु-पुलक होता, सारे शरीर में रोमांच होने के भाव में थरथर काँपने लगते।

'पैर में बात रोग होने के कारण श्री श्रीमाँ रोज विश्वनाथ दर्शन और गंगा स्नान जा नहीं सकती थी। बीच-बीच में गाड़ी द्वारा गंगा स्नान जाती एवं गंगा के किनारे "नोल टंकेश्वर" शिव मन्दिर में पूजा करके कहती—"यही हमारे विश्वनाथ हैं।" वे केदार मंदिर बीच-बीच में गाड़ी के द्वारा जाती। हम लोग भी बीच-बीच में माँ को प्रणाम करने जाते—रोज नहीं जाते थे। अद्वैत आश्रम से खगेन माँ के लिए पूजा के फूल, विल्वपत्र और अन्यान्य सामान लेकर रोज माँ के दर्शन के लिए जाते एवं माँ का समाचार लाते। खगेन बाजार से सामान आदि खरीद लाते। श्री श्रीमाँ अढ़ाई महीने तक अद्वैताश्रम के इतने पास थी—उनको पाकर हमलोगों को इतना आनन्द हुआ था कि किस प्रकार यह समय कट गया कि किसी को मालूम ही नहीं पड़ा। माँ तो जैसे अद्वैत में ही थीं। तब इस मुहल्ले में इतने लोग नहीं थे। परिवेश खूब शान्त था।

'इस वर्ष काशी में श्री श्रीमाँ का जन्मोत्सव खूब विराट् भाव से हुआ। भक्त नृपेन बाबू और चन्द्र के—प्रयास से इस दिन—अद्वैताश्रम में ठाकुर की विशेष पूजा, भोगराग हुआ एवं दोनों आश्रमों के साधु—भक्त मिलकर प्राय: दो सौ लोगों ने खूब आनन्द से प्रसाद पाया।

श्री श्रीमाँ ने प्रातःकाल "लक्ष्मीनिवास" में साधु—भक्त, सभी की पूजा एवं प्रणाम ग्रहण किया। सायंकाल वे अद्वैताश्रम में आकर साधुओं को आशीर्वाद दिया एवं नया वस्त्र प्रदान किया। केवल राजा महाराज को रेशमी कपड़ा प्रदान किया। खगेन के कारण पूछने पर श्री श्रीमाँ ने हँसते-हँसते कहा: "राखाल बच्चा है" श्री श्रीमाँ की बात सुनकर सभी को खूब आनन्द हुआ।

'इस समय में श्री श्रीमाँ काशी में दीर्घ समय-तक थीं। इसलिए दूर-दूर से माँ की अनेक संतानें, साधु,—भक्त माँ को प्रणाम करने आते। वे भी सभी को आशीर्वाद करने के लिए बीच-बीच में अद्वैत आश्रम आती उनके आने से उत्सव लग जाता था।... श्री श्रीमाँ को पाकर हमलोगों को खूब आनन्द हुआ था। श्री श्रीमाँ कलकत्ता वापस लौट जाने के तीन चार दिन पहले एक दिन प्रातःकाल अपनी एक फ्रेम की हुई छवि, कपड़े के आँचल से ढाँककर अद्वैताश्रम में ले आकर एवं ठाकुर को प्रणाम करके उस फोटो को ठाकुर घर की पूर्व की ओर दीवाल में जो खाली जगह थी, वहाँ रखकर दो फूल देकर पूजा की। इस फूल को भी उन्होंने अपने कपड़े को छोर में बाँध लिया। ठाकुर घर से निकल कर श्री श्रीमाँ ने चन्द्र को बुलाकर कहा: "चन्द्र बेटा रोज दो-दो फूल देना।" श्री श्रीमाँ दीनता की प्रतिमूर्ति उनको नित्य पूजा करने को भी नहीं कहा केवल कहा: (फोटो पर) रोज दो-दो फूल देना।

'श्री श्रीमाँ उस दिन थोड़ी देर बैठ कर सभी को आशीर्वाद देकर थोड़ा प्रसाद खाकर जलपान करके चली गयी। वे प्रातः सायं जब भी अद्वैताश्रम आतीं खगेन को पहले से कह देती थी। इस दिन श्री श्रीमाँ के चले जाने के बाद चन्द्र ने ठाकुर घर जाकर देखा कि पूर्व की दीवार के ताखे में श्री श्रीमाँ ने अपने फोटो पर फूल देकर पूजा की है। चन्द्र के पास इस समाचार को सुनकर हम लोगों को खूब आनन्द हुआ। सभी ने माँ को प्रणाम किया। उसी दिन से अद्वैताश्रम में (माँ की)

नित्य पूजा आरम्भ हुई। उस समय बेलुड़ मठ में भी श्री श्रीमाँ के चित्र (प्रकट रूप से) नहीं होती थी। ठाकुर के शयनघर में श्री श्रीमाँ की एक छवि रखी थो उस पर रोज एक फूल दिया जाता था। बेलुड़ मठ में श्री श्रीमाँ की नित्य पूजा और भोगराग का प्रारम्भ हुआ श्री श्रीमाँ के देहत्याग के दूसरे दिन से। श्री श्रीमाँ ने काशी अद्वैताश्रम में अपने छवि की पूजा क्यों प्रारम्भ की थी—यह वे ही जानती हैं, यह मानव बुद्धि के अगम्य है।

उस दिन राखाल महाराज ने मेरे मुख से सब सुनकर खूब गम्भीर होकर कहा—"तारकदा, लक्षण अच्छा नहीं हैं। ऐसा मालूम पड़ता श्री श्रीमाँ चले जाने की आयोजन कर रही हैं।" हरि महाराज भी सुनकर खूब गम्भीर हो गये थे एवं कहा था—"महामाया की इच्छा ही पूर्ण होगी।" यह सब बातें कहते-कहते महापुरुष महाराज उस दिन खूब विह्वल हो गये थे।

वेद का अपौरुषेयत्व

—ब्रह्मचारी मोक्ष चैतन्य
बेलूड़ मठ

हिन्दू धर्मावलम्वो वेद को अनादि अनन्त एवं अपौरुषेय मानते हैं। वेद किसी मनुष्य के द्वारा रचित नहीं हैं, इसीलिए इसे अपौरुषेय कहते हैं। पौरुषेय रचना का आरम्भ है, इसीलिए अन्त भो है; लेकिन अपौरुषेय वेद का आरम्भ नहीं है, अतएव अन्त भो नहीं है। यह बात कितनो ही हास्यापद क्यों न लगे, लेकिन हिन्दुओं की यही धारणा है और इस धारणा की युक्ति-संगत व्याख्या भी वे देते हैं।

मनुष्य अपूर्ण है और उसका ज्ञान सीमा-बद्ध है, इसीलिए उसकी रचनाओं में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं इन्द्रियों की अपूर्णता-ये-चार दोष दिखाई पड़ते हैं। वेदवाक्यों में ये दोष नहीं है। द्वितीयत: मनुष्य की रचना इन्द्रियज्ञान पर आधारित होती है और वेद है अतीन्द्रिय ज्ञान समूह। अतएव वेद किसी मनुष्य के द्वारा रचित नहीं हो सकता है। इसीलिए आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्म-सूत्र भाष्य में लिखा है—"न ही दृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि लक्षणस्य सर्वज्ञ-गुणान्वितस्य सर्वज्ञात् अन्यत: सम्भवोऽस्ति", अर्थात् ऐसे ऋग्वेदादि रूप सवगुण सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य से नहीं हो सकती। वेद की अपौरुषेयता का यह युक्ति-प्रमाण है। अब हम श्रुति-प्रमाण पर विचार करेंगे।

शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म ने ही त्रयी विद्या का प्रकाश किया है—'ब्रह्म एवं प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्'। कृष्ण-यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी ब्रह्म को वेद का उत्स कहा गया है—'तमनु त्रयो वेदा असृजन्त।' इसका अर्थ यह नहीं है कि परमेश्वर वेद के रचयिता हैं। वेद को परमेश्वर का नि:श्वास-स्वरूप माना गया है। "अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितं यदेतत् ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेद:'—बृहदारण्यकोपनिषद् के इस वाक्य का

तात्पर्य यह है कि जैसे निःश्वास-प्रश्वास स्वाभाविक कर्म हैं, चेष्टाकृत नहीं; वैसे ही वेद परमेश्वर के द्वारा चेष्टाकृत अर्थात् बुद्धि-कल्पित नहीं है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है और यह ज्ञान ईश्वर के साथ शाश्वत रूप से वर्तमान है। इसी ज्ञान का प्रकाश ईश्वर प्रत्येक कल्प के आरम्भ में करते हैं।

परमेश्वर को वेद के रचयिता मानने पर उनके सर्वज्ञत्व की हानि होगो। जिस समय हम किसी श्लोक अथवा वाक्य की रचना करते हैं, उसके पूर्व वह श्लोक या वाक्य हमें अज्ञात रहता है। यदि हम कहें कि अमुक समय में परमेश्वर ने वेद की रचना की तो इसके साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि उस समय के पहले वेद उन्हें अज्ञात था। किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ एवं त्रिकालदर्शी हैं, अतएव कभी भी वेद उनके लिए अज्ञात नहीं हो सकता है। अतएव वेद परमेश्वर द्वारा रचित नहीं है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश सूय के साथ चिर संयुक्त है उसी तरह वेद भी ईश्वर कें साथ चिर संयुक्त है। ईश्वर अनादि-अनन्त हैं, इसीलिए वेद भी अनादि अनन्त है।

प्रतिकल्प के आरम्भ में परमेश्वर ब्रह्मा की सृष्टि कर उन्हें वेद प्रदान करते हैं। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' ब्रह्मा केवल वेद की पुनरावृत्ति करते हैं। इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्मा भो वेद के केवल स्मरण-कर्त्ता अर्थात् धारक मात्र हैं। (न कश्चित वेद कर्तास्ति वेदस्मर्ता चतुर्मुख ३।' प्रलय के समय वेद परब्रह्म में लीन रहता है एवं सृष्टि के पुनः आरंभ होने पर ब्रह्मा एवं ऋषिगण तपस्या द्वारा वेद की उपलब्धि करते हैं। यह निम्नलिखित श्लोक से प्रमाणित होता है—

"युगान्ते अन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥"

इसीलिए ऋषि को मन्त्रद्रष्टा कहा जाता है, मन्त्रकर्त्ता नहीं। अतएव ब्रह्मा से लेकर ऋषि तक सभी वेद के केवल स्मरणकर्त्ता अर्थात् धारक मात्र हैं, रचयिता नहीं—"ब्रह्माद्याः ऋषयः सर्वे स्मारका न तु कारकः।" जो ज्ञान पहले से है उसी का हम स्मरण करते हैं, नयी रचना का स्मरण नहीं होता है, बल्कि प्रथम उच्चारण अर्थात प्रथम प्रकाश होता है।

उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वेद किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं है। ईश्वर भी इसके रचयिता नहीं हैं। वेद अनादि अनन्त ईश्वर के साथ चिर विद्यमान है। प्रतिकल्प के प्रारम्भ में इसकी अभिव्यक्ति ईश्वर करते हैं। ब्रह्मा एवं ऋषि गण तपस्या द्वारा वेद की उपलब्धि करते हैं और गुरू-शिष्य परम्परा से इसका सतत् प्रवाह चलता रहता है। इसको प्रवाह नित्यता कहते हैं।

वेद शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है – ग्रन्थराशि एवं ज्ञान राशि। ग्रन्थराशि अनादि अनन्त नहीं हो सकती क्योंकि इसका आदि एवं अन्त है। अतएव जब हम कहते हैं कि वेद अनादि एवं अनंत है तब इसका तात्पर्य इस ज्ञानराशि से ही है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में हिन्दू जाति ने अपना धर्म श्रुति-वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं। श्रोताओं को, सम्भव है, यह बात हास्यास्पद लगे कि कोई पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। किन्तु वेदों का अर्थ कोई पुस्तक है ही नहीं। वेदों का अर्थ है, भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक सत्यों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि

मनुष्य जाति उसे भूल भी जाय, तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् का शासन करनेवाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और जीवात्मा का आत्माओं के परम पिता के साथ जो नैतिक तथा आध्यात्मिक संबंध हैं, वे उनके आविष्कार के पूर्व भी थे, और हम यदि उन्हें भूल भी जाएं, तो भी बने रहेंगे।" (विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खण्ड, पृ० ७-८)

□

बोध कथा

संकल्प का फल

—मुनि प्रशान्त कुमार

किसान हल जोतने के लिए खेतों में गये। आकाश म घटायें चारों ओर छा गयी। किसानों ने जमीन साफ कर बैलों को तैयार किया और हल जोतने लगे। बादल ने किसानों को सम्बोधित कर तेज आवाज में कहा, 'ऐ किसानों, ये हल चलाना बन्द करो, अपने घरों को जाओ, मैं नहीं बरसूंगा।

किसानों ने पूछा—'क्यों बाबा, ऐसी नाराजगी क्यों? हमसे क्या गलती हुई जो आप नहीं बरसेंगे।'

बादल ने कहा—'बस, मैं नहीं बरसूंगा।'

किसानों ने बहुत आग्रह किया, प्रार्थना की, लेकिन बादल अड़ा हुआ था कि मैं अब बारह वर्ष तक नहीं बरसूंगा। किसानों ने फिर भी पूरी मेहनत से हल चलाये, बीज बोये।'

दूसरे साल फिर किसान पूरी तैयारी के साथ खेतों में गये। बादल ने फिर अपनी बात दोहराई कि 'मैं नहीं बरसूंगा, तुम खेत तैयार करने का, हल चलाने का और बीज बोने का सारा श्रम छोड़कर घर जाओ।' किसानों ने फिर भी हल चलाये और खूब मेहनत की।

तीसरे वर्ष भी यही स्थिति रही तो बादल ने कड़ककर पूछा—'तुम क्यों नहीं इस व्यर्थ के श्रम को छोड़कर घर चले जाते, मैंने जब कह दिया कि मैं किसी हालत में बारह वर्षों तक नहीं बरसूंगा?'

किसानों ने कहा—'आप बरसें या न बरसें, हम तो हल चलायेंगे, बीज बोयेंगे, पूरा श्रम करेंगे।'

'क्यों, क्या फायदा...?' बादल ने पूछा

किसान बोले—'हम हल नहीं चलायेंगे तो हमारे बच्चे हल चलाना, जमीन तैयार करना, खेती करना भूल जाएँगे, इसलिए आप बरसें या न बरसें हम तो अपना काम करेंगे।'

किसानों के संकल्प को देखकर बादल अभिभूत हो गया। इस बार वह खूब बरसा। चारों ओर फसलें लहलहा उठीं।

(नवभारत टाइम्स से साभार)

अद्भुत साधक महर्षि रमण

—जनार्दन द्विवेदी 'दीन'

दक्षिण भारत वर्ष संत-महात्माओं की जन्म-भूमि रही है। आदि शंकराचार्य, स्वामी रामानुजाचार्य आदि सिद्ध संतों के कारण इस भू-भाग की अत्यंत प्रसिद्धि रही है।

आधुनिक युग के महान संत महर्षि रमण इसी पुण्य भूमि के अनुपम रत्न हैं जिन्होंने भारत के साथ ही पाश्चात्य मुल्कों का ध्यान अपनी आध्यात्मिक शक्ति की ओर आकृष्ट किया है। वास्तव में वे एक सिद्ध संत थे जिनकी आंखों की अपूर्व ज्योति को देखकर ही लोगों में आध्यात्मिकता की दिव्य किरणें फूट पड़ती थीं।

ऐसे संत का आविर्भाव ३० दिसम्बर, १८७९ को तमिलनाडु के एक छोटे से गांव में हुआ था जिसका नाम 'तिरुच्चुषि' है। यह गांव मदुराई से तीस मील दूर है। यह अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। ऐसे भी दक्षिण भारत वर्ष ताड़, नारियल, केले आदि विविध पत्र-पुष्पों से सुसज्जित अपनी रमनीयता के लिए पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र रहा है।

इनके पूज्य पिता श्री सुन्दरम् अय्यर एक अच्छे वकील थे और उनकी प्रवल इच्छा थी कि उनका पुत्र भी एक प्रसिद्ध वकील बनकर उनके खानदान का नाम रौशन करे, पर महर्षि रमण को पठन-पाठन की ओर नाम मात्र की अभिरुचि थी। वे सदैव विचारों में डूबे रहते थे। घर के लोग उनकी इस स्थिति से खिन्न रहा करते थे और उनके पठन-पाठन के लिए जोर दिया करते थे वास्तव में उनका आविर्भाव तो इस संसार में इस सांसरिक विद्या के पठन-पाठन के लिए नहीं हुआ था। वे तो आध्यात्मिक विद्या के पूंजीभूत प्रतीक थे।

एक दिन उन्होंने अपना घर-द्वार सदा के लिए छोड़कर अरुणाचल पर्वत के लिए प्रस्थान किया।

यह पर्वत दक्षिण-भारत वर्ष का कैलाश माना जाता है। भूगर्भ वेत्ताओं की दृष्टि में यह हिमालय पहाड़ से भी प्राचीन है। अतः यही पर्वत अंततः ऋषि की साधना स्थली बना रहा।

बचपन का नाम वेंकटरमण था। उनकी अपूर्व साधना उस पर्वत प्रदेश से प्रारम्भ हुई। घर वालों के आग्रह के बावजूद भी उन्होंने उस स्थान को नहीं छोड़ा। अंत में उनके परिवार वालों ने उनका मोह सदा के लिए परित्याग कर दिया।

उनकी कठोर साधनाओं का एक लम्बा इतिहास है। अनेक कष्टों और विघ्न-बाधाओं के बावजूद भी उनकी साधना में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी। अंततः उनका गौतमबुद्ध की तरह आत्म-ज्ञान की उपलब्धि हो गयी और उनके पावन दर्शन के लिए लोगों की अपार भीड़ एकत्र होने लगी। बाद में उस रमणीय पर्वत के समीप एक मनोहर आश्रम की स्थापना हो गयी और वह आश्रम तो बाद में देश-विदेश के लोगों के आकर्षण का केन्द्र बन गया।

महर्षि के विदेशी शिष्यों में विशेषतया पाल ब्रण्टन का नाम उल्लेखनीय है जिनके हृदय में भारतीय ऋषि-महर्षियों के लिए बड़ा आकर्षण था। उन्होंने भारत के कई महात्माओं के दर्शन किये पर उनकी जिज्ञासा महर्षिरमण के दर्शन से ही शांत हुई। वे एक सफल पत्रकार [illegible] थे अतः उनके संबंध में तीन पुस्तकें लिखी जो संसार में अत्यत प्रसिद्ध हुई। उन पुस्तकों के नाम (१) 'मेसेज फ्रॉम अरुणाचल' (२) 'द सीक्रेट पाथ' (३) ए सर्च इन सीक्रेट इंडिया' इन पुस्तकों में दो पुस्तकें महर्षि से सम्बन्धित हैं और अंतिम पुस्तक

में महर्षि के जीवन का थोड़ा ही अंश यत्र-तत्र आयु का है। इन पुस्तकों के पठन-पाठन का ऐसा प्रभाव कई लोगों पर पड़ा कि उन लोगों ने अपने घर-बार को सदा के लिए छोड़कर उनके आश्रम के लिए प्रस्थान किया और अपनी जीवन-लीला भी वहीं समाप्त की। इनमें स्पेन के एक सेनाधिकारी ए० डल्ब्यू, छोडविक ब्रंटन का नाय विशेष रूप से उल्लेखनीह है। इन पुस्तकों में आध्यात्मिकता की ऐसी गंगा प्रवाहित हो रही है जो आध्यात्मिक पिपासुओं को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

महर्षि रमण के सम्बन्ध में उनके शिष्यों द्वारा कई आध्यात्मिक ग्रंथों का प्रणयन हुआ है। उनके उपदेशों को भी ग्रन्थ के रूप में उनके शिष्यों ने सजाया है। उनके उपदेश भी श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेशों की तरह आत्मानुभूतियों पर आधारित हैं।

वे अपने उपदेशों में एक स्थान पर कहते हैं—

"तुम ऐसा क्यों समझते हो कि तुम गृहस्थ हो? तुम चाहे गृहस्थी चलाओ या घर-बार छोड़ कर वन में जाओ, तुम्हारा पीछा यह विचार नहीं छोड़ेगा। अहं ही सब विचारों का मूल है। वही शरीर और संसारो सृष्टि करता है और तुममें यह विचार भर देता है कि तुम गृहस्थ हो। तुम संन्यासी बने तो इतना अन्तर होगा कि "मैं गृहस्थ हूँ" के स्थान पर तुममें 'यह विचार आ जायेगा कि 'मैं संन्यासी हूँ'। घर के वातावरण के बदले वन का वातावरण आ जाता है। उससे मानसिक विघ्न दूर नहीं होंगे। नया वातावरण प्राप्त कर वे और भी बढ़ जायेंगे। इसलिए स्थान बदलने से कोई लाभ नहीं होगा। एकमात्र विघ्न मन है। 'घर में रहो चाहे वन में' इस मन को जीतना आवश्यक है। एकान्तता मनुष्य के मन में है, मन की एक वृत्तिमात्र है। सांसारिक वस्तुओं में आसक्त मनुष्य एकान्त सेवन नहीं कर सकता। चाहे जहाँ रहे, अनासक्त मनुष्य सदा एकान्त का सेवन करता है।

आत्मानुभूति के सम्बन्ध में उनका कहना है— 'आत्मानुभूति या आत्म साक्षात्कार बाहर की वस्तु नहीं है कि उसकी पुनः प्राप्ति हो सके। वह तो पहले से ही मनुष्य के हृदय में विद्यमान है बस, योग साधनाओं के द्वारा उसे जगाने की आवश्यकता है।

वे स्पष्ट कहते हैं—'निश्चलता या शान्ति ही आत्मानुभूति है। एक पल भी ऐसा नहीं है जब आत्मा विद्यमान न हो।

महर्षि ने सारे कष्टों का कारण अहंकार को बतलाया है: यह अहंकार मनुष्य के अन्दर ही विद्यमान है। यदि मनुष्य अहंकार को नष्ट कर दे तो वह सदा के लिए दुःखों से मुक्त हो जायेगा। अहंकार के उन्मूलन के लिए अभ्यास एवं साधना की आवश्यकता पड़ती है।

भगवान के विषय में उनका कथन है कि वे मनुष्य के साथ और उसके भीतर सदा ही विद्यमान हैं। आत्मा ही भगवान है। इसको प्राप्त करने के लिए संसार या घर-बार त्यागने की आवश्यकता नहीं है। कामनाओं का त्याग करना आवश्यक है। वास्तव में इनके त्याग करने वालों में सारा संसार समा जाता है।

जिन महान पुरुषों ने संसार का त्याग किया है उन लोगों ने अपने कुटुम्ब के प्रति असंतोष होने के कारण संन्यास नहीं धारण किया, बल्कि उनके हृदयों में समस्त मानव-जाति के लिए करुणा की धारा प्रबाहित हो रही थी। गौतमबुद्ध आदि महान पुरुषों के जीवन इसके जीते-जागते उदाहरण हैं।

महर्षि रमण आधुनिक युग की महान् आध्यात्मिक विभूति हैं। वे पूर्णतः आजीवन अनासक्त-भाव से संसार के कल्याण में लगे रहे। ऐसे महान्

योगी ने सन् १९५० में अपने भौतिक शरीर का परित्याग कर सारे लोक मानस को झकझार दिया था।

इस कालजयी प्रतिभा के कारण सारा विश्व इनके चरणों में नतमस्तक हुआ।

अरुणाचल के समीप स्थित उनका आश्रम आज भी देश और विदेश के लोगों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। आश्रम के दर्शन-मात्र से ही आध्यात्मिकता की धारा दर्शकों के हृदय में प्रवाहित होने लगता है और एक दिव्य-अनुभूति का अनुभव कर लोग एक अनिवर्चनीय समाधि की स्थिति में डूबते रहे हैं।

कहानी

बेसूरा गीत

— स्वामी विवेकानन्द

[ईश्वर अंतर्यामी हैं। मनुष्य मन ही मन उनसे जो प्रार्थना करता है, वे उसे अवश्य सुन लेते हैं। उनको सुनाने हेतु जो गीत गाये जाते हैं, उनका सुरतालबद्ध होना अच्छा है। जो लोग गाना नहीं जानते, उनके लिए मन ही मन प्रार्थना करना उचित है। बेसूरे गीत के संबंध में यह कहानी स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक "सोचने की बातें" में लिखी है।]

ईश्वर का विशाल मन्दिर। भीतर भगवान हैं। भगवद्दर्शन के लिए प्रत्येक दिन शतशत यात्री मंदिर में आते थे। मन्दिर के पुजारी थे चौबे जी। चौबेजी सर्वगुण सम्पन्न थे। पहलवान थे। पहलवान होने के साथ साथ वे सितार के उस्ताद भी थे। भांग के प्रति उनकी विशेष आसक्ति थी।

एक शाम चौबे जी एक लोटा भांग पी दालान के एक कोने में ऊँघ रहे थे। तभी एक आदमी मंदिर में पूजा करने आया। दर्शन के बाद उसमें अचानक भगवत्प्रीति उमड़ पड़ा। वह गाने लगा, मानो गधा रेंक रहा हो।

इधर चौबे जी भांग के नशे में धुत्त थे। चौबे जी ने देखा कि शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान उनसे कह रहे हैं कि आओ, मैं तुम्हें दुनिया का बादशाह बना दूँ। चौबे जी खुशी से उछल पड़े। उनकी बादशाही पलक झपकते ही गायब हो गयी जब एक कर्कश ध्वनि ने उनकी स्वप्निल तन्द्रा को भंग किया। उन्होंने देखा कि शंख-चक्र-पद्मधारी शनैः-शनैः गायब हो रहे हैं। उनकी दुर्लभ तन्द्रा में आघात पहुँचानेवाला कौन है, यह जानने के लिए उनके लाल-लाल चक्षु चतुर्दिक घूमने लगे। उन्होंने देखा कि मंदिर के एक कोने में एक व्यक्ति भाव-विभोर हो, श्रद्धाभीनी वाणी में गीत गा रहा था। उनके बेसुरे गीत को सुन चौबे जी, जो खुद संगीत में पंडित थे, उबल पड़े। आँखें लाल करते हुए उन्होंने प्रश्न किया—"इस तरह बेसुर-ताल गाने की तुम्हें क्या पड़ी है?"

"सुरताल की क्या आवश्यकता, मैं तो भगवान को प्रसन्न कर रहा हूँ।"—उसने जबाव दिया।

चौबे जी बोले—"हूँ, तो ईश्वर ऐसे ही अहमक हैं न? पगले, तू तो मुझे भी न प्रसन्न कर सका। ईश्वर क्या मुझसे भी मूर्ख हैं?"

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी.-१४-८३

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सईदपुर, पटना-४ में मुद्रित।